

३३२

~~नाट्य~~

६६६६

आलोचनात्मक

निबन्ध ^{११-१६५}

(५२५)

मिश्र

आलोचनात्मक-निबन्ध

[राजस्थान विश्वविद्यालय की जी हा मा परीक्षा के
तरीक वर के लिए ग्यारह]

३३२
शास्त्र

१५
१५

संख्या १६

हॉ० रामचन्द्र मिश्र

१५ १५ १५

रीडा मापन विश्वविद्यालय मालपुर

मुद्रक—दी एज्युकेशनल प्रेस, सिटी स्टेशन रोड, आगरा-२२२००१
पुस्तक का मूल्य—चार रुपये पच्चीस पैसे मात्र



आभार प्रदर्शन

जिन विद्वानों के निबन्ध इस संग्रह में प्रस्तुत हैं, उनके प्रति
प्रकाशक अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं ।
व्यतिरिक्त पाठ में अज्ञाने कहीं कोई भेद
नमाप्रार्थी हैं

6666
22-1-65

आवकथन • • •

332
साहित्य

प्रत्येक सग्रहकर्ता और सम्पादक की रुचि भिन्न होती है अतएव ग्रहों में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत सग्रह में यह स्पष्टकोण रखा गया है कि सम्भवतः हिन्दी आलोचना के विभिन्न युगों का क्रमिक इतिहास और स्वरूप पाठकों के सामने रखा जाय। ऐसा करने में छात्रों में आलोचना के महत्त्व, उसके सिद्धान्त और उसके विकास का चित्र स्पष्ट हो सकेगा। स्नातक होने के पश्चात् स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए वे कटिबद्ध होंगे तो उनका आलोचना-विषयक-ज्ञान, मोक्षा विषयक सिद्धान्तों और प्रयोगों के विस्तार के समझने में सहायक होगा।

यदि प्रस्तुत सग्रह द्वारा उपरोक्त सध्य की कुछ भी पूर्ति हो सकी तो सग्रहकर्ता अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

सम्पादक:

३३२

साहित्य

निबन्ध-सूची

७७७६

२२.१ ७५

भूमिका	१-२०
१. बहि-शिक्षा : क्षेमेन्द्र-कृत कष्टाभरण	
—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी	२१-२७
२. भारतीय साहित्य की विशेषताएँ	
—डॉ० श्यामसुन्दर दास	२८-४२
३. छायावाद	
—जयशंकर 'प्रसाद'	४३-४६
४. साहित्य के मूल्य	
—डॉ० गुलाबराय	४७-५५
५. शुक्लजी और छायावाद	
—डॉ० देवराज	५६-६६
६. नया साहित्यिक दृष्टिकोण	
—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	६७-७२
७. नयी कविता : नया संतुलन	
—डॉ० जगदीश गुप्त	७३-८०
८. नयी कविता का सामाजिक परिवेश	
—डॉ० जयशंकर	८१-८७
९. नयी काव्य-संरचना की मनोवैज्ञानिक दृष्टि	
—समीरान्न वर्मा	८८-१०४
१०. कामायनी	
—नन्दकुमार वादवेदी	१०५-११६

११. कला कला के लिए
—डॉ० सोमनाथ गुप्त ११७-१२०
१२. राजस्थानी साहित्य में शौर्य-श्रुति और उत्तरा
मनोरंजनान्त आधार
—डॉ० कन्हैयालाल गहल १२५-१२४
१३. पाँचवें शताब्दी की कविता
—डॉ० नामवर सिंह १३५-१३९
१४. शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक : नैतिक मूल्यों की समस्या
—डॉ० रामविलास शर्मा १४२-१७२

आलोचना का महत्त्व

आलोचना शब्द संस्कृत तत्सम शब्द है जो लुच् (देखना) धातु से बना है। इस धातु से 'लोचन' (देखने वाला या नेत्र) शब्द की व्युत्पत्ति होती है। 'लोचन' के पूर्व 'आ' शब्द लगाना है जिससे 'लु' का लीट हो जाने से 'आलोचना' शब्द बनता है। इससे पूर्व से 'लम्' उपसर्ग और अन्त में 'टाप्' प्रत्यय के बरने से 'समालोचना' बनता है। अतएव समालोचना का अर्थ हुआ 'सब प्रकार से विधिपूर्वक किसी वस्तु के देखने की व्यवस्था।'।

अतएव साहित्यिक समालोचना का अभिप्राय है 'साहित्य की सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष व्यवस्था या विधि'।

साहित्य की आलोचना करने के लिए साहित्य क्या है? साहित्य क्या है? प्रत्येक का सूजन किस प्रकार होता है? प्रत्येक साहित्यिक के लक्षण क्या है? साहित्य में गुण और दोष क्या होते हैं? साहित्य के लक्ष्य में क्या अभिप्राय है? आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर की जानकारी आवश्यक है। जब तक किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति और स्वरूप का पूर्ण ज्ञान न हो जब तक तक उसकी आलोचना की जा सकती है? बिना जानकारी होता हो तो व्यर्थ ही रहेगा। गुण-दोष का विवेचन करने के उपरान्त उसके 'सुन्दर'-'असुन्दर' का निर्णय करने की दृष्टि भी तो आवश्यक है। किन्तु किसी निर्णय के आलोचना का प्रयोजन ही क्या? सुन्दर आलोचक केवल निर्णय ही नहीं होता बल्कि निर्णय भी होता है।

साहित्यिक कृति पर एकाएक निर्णय दे देना सुगम नहीं है। इसके लिए आलोचक को आलोच्य विषय के ज्ञान के साथ-ही-साथ निष्पक्ष, सत्यव्रता, विशाल हृदयो, सहानुभूति पूर्ण तर्कशक्ति सम्पन्न, विवेक-शक्तियुक्त और प्रतिभावान्प्रुक्त भी होना चाहिए। इसलिए आवश्यक है कि वह नोर-शीर-विवेक हो, छिद्रान्वेषण की भावना से रहित हो, दोषों को प्रकट करने वाला और गुणों की सराहना करने वाला हो, सुखि और भावुकता से पूर्ण हो और साहित्य के सभी स्वरूपों—काव्य-शास्त्र आदि का ज्ञाता हो।

आलोचना को कई भागों में बाँटा जा सकता है—

१. वह आलोचना जिसका उद्देश्य किसी कृति का केवल गुण-दोष-प्रयत्नकरण हो। आलोचक केवल दोनों का विश्लेषण कर देता है।

२. वह आलोचना जिसका लक्ष्य आलोच्य वस्तु या उसके वर्णन की व्याख्या मात्र करना हो। ऐसी आलोचना में रचना की समस्त जटिल एवं मार्मिक गुणियों की केवल व्याख्या कर दी जाती है। दुर्बोध को सुबोध बना दिया जाता है।

३. वह आलोचना जिसका उद्देश्य रचना का मूल्यांकन करना हो। ऐसी आलोचना में आलोचक गुण-दोष का विवेचन भी करता है। जटिल अंशों की आवश्यकतानुसार व्याख्या भी करता है और इन दोनों के आधार पर अपना निर्णय भी देता है। यह निर्णय ही रचना का मूल्यांकन है जिसकी कसौटी विषय सम्बन्धी शास्त्रीय लक्षण हैं। कभी-कभी अन्य लेखकों की रचनाओं से तुलना कर वह तुलनात्मक आलोचना सामने प्रस्तुत करता है और बताता है कि कौन सा लेखक अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। ऐसा करने से ही वह किसी लेखक का साहित्य में स्थान निर्धारित करने में समर्थ हो सकता है। आलोचना के साथ-साथ यह साहित्य की युगकालीन आवश्यकता पर भी प्रकाश

झलना चलता है और इसी प्रकार अपनी आलोचना से पाठकों का पय-प्रदर्शक बन जाता है ।

आलोचना ऐतिहासिक (Historical criticism) शास्त्रीय (नियमों के अनुकूल) और रुढ़िगत नियमों के अनुकूल भी हो सकती है तथा प्रभाववादी (Impressionistic) भी । आलोचना की शैली वैज्ञानिक होनी चाहिए ।

समालोचना की आवश्यकता

मानव प्रगतिशील है । वह निरन्तर बढ़ना चाहता है । आगे बढ़ने का अभिप्राय है वर्तमान के स्तर से ऊपर उठना । इस उन्नति के दो मूल मंत्र हैं—वर्तमान के अभावों का विनाश और भविष्य के पूर्णत्व विधान का निर्माण । यह तभी सम्भव है जब पहले व्यक्तियों की पहचाना जाय और फिर उन्हें दूर किया जाय । अहं भाव से काम नहीं चल सकता । अव्यक्तिक दृष्टिकोण और सदस्यता की भावना ही प्रगति की ओर ले जाने वाली है । चाहे व्यक्ति का विरलेपण हो, चाहे समाज का और चाहे किसी युग का—सभी में उपरोक्त भाव-दृष्टि आवश्यक है ।

साहित्य समाज का दर्पण है । वह किसी युग की विचारधारा का प्रतिबिम्ब है । मानवता के विकास में इतिहास का मुरझित विश्वकोप है । उसमें मानवी वृत्तियों के 'सु' और 'दु' सभी लिपिबद्ध रहते हैं । उसका क्षेत्र जीवन का बहुकपात्मक स्वरूप है । यह हमारे मर्म की छ्ता है, हमारे अस्तित्व की उत्तेजना प्रदान करता है और आत्मा की उदात्त बनाना है । जिन साहित्य का महत्त्व इतना अधिक हो, जिन साहित्य का उत्तरदायित्व इतना गंभीर हो, उसके स्वरूप की आलोचना अवश्य-भावी है ।

साहित्य आनन्दप्रद है। उसका आनन्द 'ब्रह्म-सहोदर' आनन्द माना गया है। वह रसमय है और आस्वादन-योग्य है। वह अतीत के चित्रों को अंकित करता है, वर्तमान का चित्रांकन करता है और भविष्य का निर्माता है। ऐसे साहित्य को दोष रहित रखना युग का धर्म है और इसके लिए सत्य आलोचना की आवश्यकता है।

साहित्यकार अपने युग की परिधि में ही बन्दी नहीं रहता। उसकी कल्पना, उसकी अनुभूति और उसकी भावुकता यथार्थ को आदर्श बनाने में संलग्न रहती है। ऐसे साहित्यकार के चित्र अतिरंजित न होकर जीवन पर स्वास्थ्यप्रद प्रभाव डालें इसलिए साहित्यकार की आलोचना भी आवश्यक है।

साहित्य चरित्र-सुधारक है, वह चि का परिष्कार करने वाला है, संस्कृति का मापदंड है, वह व्याकुल जनता में संतोष का संचार करने वाला है, आर्थिक असंतुलन की विषम परिस्थितियों में राजनीतिक आदर्शों की विभिन्नताओं के रहते हुए भी, मानवता की प्रतिष्ठा कराने वाला है। साहित्य मानव को मानव भी रखता है और उसे देवता भी बनाता है। वह वेदना, हास्य, रति, क्रोध आदि सभी धृतियों का घनुर संप्रहर्कर्ता है। जिस साहित्य का हमारे जीवन से इतना गहरा नाता है उसकी आलोचना, उसके सत्यासत्य का निर्णय परम आवश्यक है।

कलाकार की कला इसमें है कि वह कला को छिपाकर एक संवेत मात्र दे दे और आलोचक का कार्य है कि छिपी हुई कला को स्पष्ट कर दे।

भारतीय विद्वानों ने साहित्य की रचना की। जिसमें कम अक्षर हों, जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा व्यापक हो, वह 'मूत्र' कहलाया। उन्होंने आलोचना का भी निर्माण किया। जिसमें मूत्रों का सारास व्यंजित हो, वह धृति कहलाई। मूत्र और धृति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' की संज्ञा दी गई। इनमें बहे हुए सिद्धान्तों पर आश्रय करके फिर उत्तक

समाधान कर, उन सिद्धान्तों का विवरण 'भाव्य' कहा गया। भाव्य के क्षेत्र में प्रकृत विषय को छोड़कर दूसरे विषय का जो विचार किया गया उसे समीक्षा कहा गया। इन सब में जितने अर्थ सूचित हैं, उन सबका यथासमय 'टीका' (उल्लेख) जामे हो, उसे 'टीका' कहा गया। और इसी प्रकार 'पंजिका', 'कारिका' और यातिक आदि भी बने।

भारतीय आलोचना का उपरोक्त स्वरूप बड़ा व्यक्तिक और पूर्ण था। अनेक आचार्यों ने स्वतंत्र ग्रन्थ में लिख कर उन पर उपरोक्त प्रकार की किसी आलोचना को लिखकर अपने को ग्रन्थ समझा। आचार्य अभिनव गुप्त भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' एवं 'दण्ड्यालोक' के अग्र्य आलोचक थे। उनके 'नाट्यपेक्ष विवृति' और 'सोचन' के अभाव में उक्त ग्रन्थों के अनेक जटिल स्थल अस्पष्ट ही रह जाते।

हिन्दी के आरम्भिक काल में आलोचना अधिक नहीं पनपी। रीति-काल के ग्रन्थों में जो आलोचना का रूप है, यह विवरणात्मक ही कहा जा सकता है, विवेचनात्मक नहीं। रस के तत्त्वों का उल्लेख और फिर उनका उदाहरण, अलंकारों के लक्षणों का उल्लेख और फिर उनका उदाहरण, यही उनका धर्म है। नायक-नायिका-भेद भी इसी आधार पर वर्णित है। यद्यपि इस प्रसंग में लेखक की मनोविज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म अन्वेषण शक्ति का परिचय प्राप्त होता है परन्तु उनके पास व्याख्यात्मक प्रणाली का अभाव था। यहाँ तक कि मिर्जारीदास जैसे व्यक्ति ने भी अपने 'काव्य निर्णय' में प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है। यथास्थान जो टिप्पणियाँ उन्होंने दी हैं वे सब बहुत ही कम हैं।

आलोचना का वर्तमान रूप अंगरेजी साहित्य के सम्पर्क से आया है। उपन्यास और निबन्ध जैसे नवीन साहित्यिकों के विकास और उनके लक्षणों पर पश्चिमीय आलोचना शास्त्र का सर्वांगीण प्रभाव है। परन्तु अन्य साहित्यिकों का विकास स्वतंत्र रूप से आ रहा है। यदा-कदा जो

मिश्रण भारतीय एवं पश्चिमीय दृष्टिकोण का मिल जाता है, उसका कारण केवल परस्पर का परिचय और आदान-प्रदान है ।

हिन्दी-आलोचना का विकास

आधुनिक हिन्दी-आलोचना अपेक्षाकृत नई है । निस्संदेह इसका मूल स्रोत संस्कृत के काव्य-शास्त्र ही हैं परन्तु पश्चिमीय दृष्टिकोण ने भी आलोचना के विकास में बड़ा योग दिया है ।

हिन्दी-आलोचना का प्रथम रूप यह है जो भक्त-मालों और पार्थाओं में संकलित भक्त कवियों के विषय में फुटकर उल्लेखों के रूप में मिलता है । उदाहरण के लिए इस दोहे को ले लीजिए—

तत्व तत्व गूरा कही, तुलसी कही अनूठी ।

बची सुची कबिरा कही, और कही सब शूठी ॥

इस प्रकार की समीक्षा सूक्तियों के रूप में प्रचलित थी ।

रीतिकाल में आलोचना के दो रूप विकसित हुए—संस्कृत के काव्य-शास्त्रों के आधार पर रचित रीतिग्रंथ और सिद्धान्तों या परिभाषाओं के रूप में दिए गए उदाहरण । सिद्धान्तों में संस्कृत के अलंकार और रस सम्प्रदायों की मान्यता अधिक रही । जैसे यदि वेश्य का शृङ्गाय अलंकार समीक्षा की ओर था तो देव, मानेराम और बेनीप्रबोधन रस सम्प्रदाय के अनुयायी थे और सेनापति, चिनायाजी आदि 'रस रत्नि' में अधिक आस्था रखते थे । रीतिकाल में टीकाओं के रूप में भी आलोचना का विकास हुआ था । सरदार कवि का 'मानस रत्न' इस पद्धति का अच्छा उदाहरण है ।

परन्तु आधुनिक आलोचना का उद्भव भारतेन्दु काय से ही हुआ

१. भारतेन्दु की कविचरन मृग (वर्ष १८६८) और
२. चन्द्रिका (१८७३) में जो विवरण पुस्तकों के विषय में प्रका-

शित होते थे, वे ही उस युग की समालोचना के उदाहरण थे । भारतेन्दु के समकालीन पत्रकारों ने इसी पद्धति को अपनाया था । 'प्रेमधन' और धातकृष्ण भट्ट ने अवश्य एक बार साहाय्यदास के 'सयोगिता स्वयंवर' नाटक के गुण-दोषों की आलोचना अपने-अपने पत्र में उन दिनों भी की थी । सन् १८८५ में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दोत्थान' में 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक से गुण-दोष दर्शन प्रदर्शित करने वाला एक निबन्ध लिखा था ।

आलोचना का श्रान्तिकारी युग काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन (१८६७) के साथ आरम्भ हुआ । उसमें अनुसंधानपरक गम्भीर निबन्ध या लेख प्रकाशित हुए । आरम्भिक वर्षों में ही श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध निकला जो समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी था । उसी वर्ष डा० जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' पुस्तक प्रकाशित की । यह कृति अंगरेजी बर्ष 'पोप' के Essay On Criticism का पद्यात्मक अनुवाद था । इसी प्रकार की एक अन्य पुस्तक 'गद्य-काव्य भोमासा' थी जिसके लेखक अम्बिकादत्त व्यास थे । व्यास जी का जन्म-स्थान जयपुर ही था परन्तु यह काशी में जा बसे थे ।

सन् १९०० में सरस्वती के प्रकाशन के साथ हिन्दी-आलोचना-जगत में एक नया मोड़ आया । इन दिनों बीसवीं सदी में आलोचना के कई प्रकार दिखाई देते हैं—

१. समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्ध और पुस्तकें ।
२. तुलनात्मक आलोचना—यथा पद्मसिंह शर्मा का बिहारी सनसई भाष्य, कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारों', सा० अगवान दोन कृत 'बिहारी और देव' आदि ।
३. साहित्य की सामान्य समीक्षा—मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नव-रत्न',

इसमें अंगरेजी बिचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है, लेखक ने बताया है कि कवि का संदेश क्या है और यह उमरों वही तक सत्य हुआ है।

४. छोज एवं अनुसंधानात्मक आलोचना—यथा गुमेरीजी की 'पुरानी हिन्दी', श्यामगुन्दर बाग का 'बीसलदेव रासो' आदि। इसी पद्धति से आगे चलकर डॉस्टोवेट की पदवी के लिए छोज प्रबन्धों की परिपाटी चली।

५. ध्यादयात्मक समीक्षा—इस दिशा में पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रयास स्तापनीय है। 'जायसी ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' और 'गूरदास' पुस्तकों की विस्तृत भूमिकाएँ ध्यादयात्मक प्रणाली की ही आलोचना है। बाबू श्यामगुन्दर बाग ने भी इस दिशा में प्रयास किया है।

६. स्वच्छन्दतावादी आलोचना

कवि की आन्तरिक संवेदना की ओर इस आलोचना का लक्ष्य रहता है। ये आलोचक लेखक के अन्तर्गत में प्रवेश कर मार्मिक सौन्दर्य का उद्घाटन करना चाहते हैं। उनका ध्यान लेखक की वस्तु-संकलन, चरित्र-चित्रण, कल्पना, भावाभिव्यक्ति एवं ध्यन्यात्मकता (Suggestion) की ओर रहता है। इसका सूत्रपात तो वास्तव में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की उन भूमिकाओं से ही हुआ जिनमें उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति का उन्मेषण किया है। बाद में नन्ददुलारे धाजपेयी इस धारा के एक अप्रगण्य लेखक बने। 'कामायनी' की आलोचना इस दृष्टि से द्रष्टव्य है।

७. मनोविश्लेषणात्मक समालोचना

यह धारा पश्चिम से आई है। फ्रायड और एडलर इसके मूल उन्नायक थे। फ्रायड का मत है कि मानव की अनेक वासनाएँ कुछ प्रतिबन्धों—धार्मिक, नैतिक, सामाजिक—के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती हैं।

ये इसी हुई वागनाई, उपधेतन मरितक में गृह्य भोजन क्षेत्र में माने तथा अभिप्यक्त होने के लिए निम्नतर प्रयत्नशील होती रहती हैं। इन इमिन वागनाओं की अभिप्यक्ति कसा और शक्तिव्य में एक सुन्दरतम रूप में होने की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि इनमें इनका उदासी-करण (Sublimation) हो जाता है। उपधेतन मरितक की शक्तियों का प्रभाव धान्य के व्यक्तित्व-निर्माण पर पड़ता है। इस सत्य की खोज होने पर इसका समर्थन मनोविज्ञान के पंडितों ने काव्य और कसा के आधार पर समीक्षा-क्षेत्र में भी आरम्भ किया और यही समीक्षा 'मनो-विरलेयनात्मक समीक्षा' बहसाई। पं० इत्ताचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने इस ओर पर्याप्त प्रगति की है। डा० देवराज उपाध्याय का शोध प्रबन्ध इसी आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

८. मार्क्सवादी आधार पर आधित आलोचना

आलोचना के क्षेत्र में यह मोड़ सबसे अधिक नया है। इसका आधार मार्क्स का जीवन-दर्शन है। इस दर्शन का नाम 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है। इसका उद्देश्य द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर जगत के वास्तविक सत्य का अनुगमन करना है। इस प्रणाली के तर्क की यह विशेषता है कि यह यह मानकर चलती है कि जगत की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इन्हीं विरोधी तत्त्वों में द्वन्द्व चलता रहता है परन्तु एक अवस्था ऐसी भी आती है जब यह द्वन्द्व संतुलन में परिणत हो जाता है। इस दर्शन की परिभाषा में प्रत्येक वस्तु के तीन अवस्थान माने जाते हैं—प्रस्तुत अवस्थान (Thesis) विरोधी तत्त्वों से द्वन्द्व करता हुआ प्रत्यवस्थान (Antithesis) और फिर दोनों में संतुलन होने वाला साम्यावस्थान (Synthesis)।

मार्क्सवादी समालोचक यह देखता है कि लेखक इस युग की किस विचारधारा का समर्थन करता है सामन्तशाही युग का लेखक सामन्त-

शाही विचारधारा का पीपक होगा और पूंजीवादी पूंजीवाद का । उसकी समझ में वर्तमान पूंजीवादी प्रणाली दूषित है और समाजवाद में उसका परिवर्तन होना चाहिए । तभी प्रगति संभव है ।

इस आलोचना के समर्थक डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, डा० नामवर सिंह आदि हैं । कविता में इस विचारधारा के उन्नायकों में डा० जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकान्त वर्मा हैं । उनकी विचारधारा के कुछ छोटे प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित हैं ।

सत्य तो यह है कि आज का जीवन ही एक संक्रान्तिकाल से गुजर रहा है । पुराने मूल्यों का अवमूल्यन और नयों की स्थापना का प्रयत्न किया जा रहा है । साहित्य में इसी की अभिव्यक्ति हो रही है । आज का समालोचक किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता । कभी वह एक प्रणाली अपनाता है और कभी दूसरी । केवल भविष्य ही यह निर्णय कर सकेगा कि कौनसी समीक्षा-पद्धति सबसे अधिक हितकर और महत्त्वपूर्ण है ।

निबन्ध-लेखक-परिचय

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८)

द्विवेदी जी के नाम से कौनसा हिन्दी पाठक परिचित नहीं है। जब सन् १९०० में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार संभाला तब से लगभग दो शतक तक उनका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर इतना अधिक पड़ा है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका नाम ही द्विवेदी-युग पड़ गया है। हिन्दी भाषा, कविता, कहानी, आलोचना आदि पर उनका प्रभाव बड़ा ही अद्भुत और प्रशस्त था। छड़ीबोली को साहित्यिक भाषा बनाने में और उसका परिनिष्ट रूप संवारने में द्विवेदी जी की सेवाएँ अपूर्व थीं।

द्विवेदी जी नितान्त पुरातनवादी तो नहीं थे। पश्चिम से आने वाली विचारधारा में जो अच्छा था वह तो उन्हें ग्राह्य था परन्तु नूतन में सभी अच्छा है और पुरातन सभी गला-साड़ा है। इसमें उनका विश्वास नहीं था।

प्रस्तुत निबन्ध में द्विवेदी जी ने भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्य क्षेमेन्द्र के विचारों से अपने पाठकों को अवगत कराया है। पाठक देखें कि कवि-भस्तिष्क में आचार्य क्षेमेन्द्र की कितनी पहुँच थी और कवि-वर्म की उन्होंने कितनी गूढ़ व्याख्या की है। फिर पश्चिमी विचारधारा से उसकी तुलना कर अपने निष्कर्ष पर पहुँचें।

२. डा० श्यामसुन्दर दास (१८७५—१९४५)

डा० श्यामसुन्दर दास ने अपना जीवन स्कूल-अध्यापक के रूप में आरम्भ किया और धीरे-धीरे हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

(यारागो) में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित हुए। बाबूजी का जीवन हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए त्याग और उत्साह का जीवन था।

यदि सर आयुनोय को भारतीय भाषाओं के साहित्य की वक्तवता विषयविद्यालय में प्रवेश कराने का श्रेय प्राप्त है तो स्वामगुन्दर दास जी को हिन्दू विषयविद्यालय में हिन्दी-विभाग की स्थापना करने और उसे उच्चतम स्तर तक विकसित करने का श्रेय मिलना चाहिये। स्नातकोत्तर स्तर तक हिन्दी की शिक्षा सर्वप्रथम बनारस में ही हुई थी। यंसे नागरी प्रचारिणी सभा काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं के प्राण भी बाबूजी ही थे।

एम० ए० स्तर की पाठ्य पुस्तकों के लिखने में बाबूजी ने कड़ा प्रयत्न किया था और भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि विभिन्न विधाओं की मानक पुस्तकों की रचना उन्होंने की थी और अपने सहयोगियों से भी कराई।

प्रस्तुत निबन्ध में बाबूजी ने भारतीय साहित्य की विशेषताएँ बताते हुए कहा है कि जातीय साहित्य में क्या होना चाहिये और हिन्दी साहित्य की क्षमता क्या है ?

३. बाबू गुलाबराय (१८८८-१९६३)

बाबू गुलाबराय उस पीढ़ी के लेखक थे जिसके सामने पड़ीबोली अपना रूप सँवार रही थी। किसी आदर्श के सामने होने पर तो सभी लिख लेते हैं और प्रायः आदर्श से भी अधिक उत्तम लिख लेते हैं परन्तु सृजन-कला के कुशल कलाकार बहुत ही कम होते हैं। बाबूजी का जीवन साहित्य की एकान्त और भूक साधना थी। प्रकृति के सरल, विचार से दूर, वर्तमान शिष्टाचार जिसे छू तक न गया हो ऐसे हिन्दी साहित्य के एक दृढ़ स्तम्भ थे। यद्यपि उनका

मूल विषय तर्क-शास्त्र और दर्शन या परन्तु बाद में साहित्यिक रचनाओं में ही उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति को विनीत कर दिया था। इसी कारण उनका साहित्य गम्भीर और मननशील है।

साहित्य के मूल में साहित्य सृजन और साहित्य पठन-पाठन का ही प्रधान है। साहित्य की आवश्यकता ही क्या है? साहित्य का मानव-जीवन से क्या सम्बन्ध है? हमें साहित्य क्यों पढ़ना चाहिये? आदि प्रश्न किसी जितानु के उत्तर पर छूट विचार करने के उपरान्त ढोंक निराने हैं। मोती की परछाया तो राजा कर सकता है या जौहरी। अन्य अनागत पुरुष उसका मूल्य क्या समझेंगे। गुलाबराज जी ने पुरातन साहित्य हेतुओं के सारल दार्शनिक रूप को इस निबन्ध में प्रस्तुत किया है।

४. जयशंकर 'प्रसाद' (१८६०—१९१७)

बागी के निवासी थे और ध्यस्तानी क्षेत्र वर्ग में जन्म लिया था। परिवार संघर्षी साहू के नाम से प्रसिद्ध था। प्रसाद सम्पन्न घराने में उत्पन्न होकर भी धनाढ्य नहीं थे। पिता के मरने पर उन्हें बहुत सा ऋण चुकाना पड़ा था।

प्रसाद की रचनाओं की सत्यापित करने की पूर्ण आवश्यकता नहीं। वह कवि थे, नाटककार थे, उपन्यासकार थे, कहानीकार थे और निबन्ध लेखक भी। उनके निबन्ध खोजपूर्ण और सर्वांगीण के सम्पर्क में हैं।

साहित्यिक एक ऐसा निबन्ध है जिसमें प्रसाद के 'साहित्य' के सम्बन्ध में उनके सैद्धांतिक पक्ष का निरूपण किया है। 'साहित्य' शब्द का परिष्कार अर्थ सर्वप्रथम उन्होंने ही अपने निबन्ध के विस्तार स्पष्ट किया था। उनके स्पष्टीकरण के पूर्ण 'साहित्य' एक बार भी जन्म लिया गया था परन्तु उसकी स्वीकृति प्रसाद की।

५. डा० देवराज

मूलतः दर्शन के विद्यार्थी हैं और आजकल भी वाराणसी के विश्व-विद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष हैं। परन्तु दर्शन शास्त्र में अन्त-र्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हुए भी उन्हें हिन्दी साहित्य रचना की लगन है।

डा० देवराज ने हिन्दी में उपन्यास, कहानी, कविता और आलोचना सभी प्रकार की विधाओं में रचना की है।

प्रस्तुत निबन्ध में डा० देवराज ने आरम्भ में ही आलोचना शक्ति के तीन अवयवों का उल्लेख किया है और उसी के आधार पर उन्होंने शुक्लजी के छायावाद विषयक मत की आलोचना की है। आरम्भ में शुक्लजी छायावादी साहित्य के प्रशंसक नहीं बरन् कट्टर विरोधी थे। कालान्तर में तत्सम्बन्धी उनके मत में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था जैसा कि उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तिम संस्करण से सिद्ध है। डा० देवराज ने समस्त परिस्थितियों के परिवेश में शुक्लजी के छायावादी विचारों के कारण ढूँढ़कर अपना दृष्टिकोण प्रतिपादित किया है। उनकी तर्क-शक्ति और विश्लेषण-शक्ति अपूर्व है, उनमें सहृदयता है और वास्तविकता को पकड़ने की क्षमता है।

६. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (जन्म सन् १८७७)

हिन्दी साहित्य के पुराने लेखक हैं। ज्योतिष के आचार्य होते हुए भी उन्होंने हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की है। द्विवेदी जी शान्ति निकेतन में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। तत्पश्चात् काशी विश्वविद्यालय और पंजाब विश्वविद्यालय में प्रमश. हिन्दी के प्रोफेसर रहे।

द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं में 'बाणभट्ट की आत्म-काया' तथा 'चारुचन्द्र' उपन्यास अति प्रसिद्ध हैं। वह समालोचक और निबन्ध लेखक हैं। उनके कई ललित निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत निबन्ध उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और गम्भीर चिन्तन धारा का परिणाम है। जिस समय प्रगतिवाद का आन्दोलन चला तो पुराने छेमे के लेखकों ने उसके सम्बन्ध में अनेक शकाएँ प्रकट कीं। कई प्रकार के स्पष्टीकरण किये गये। द्विवेदी जी ने भी अपना दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में प्रकट किया है।

७. डा० जगदीश गुप्त (जन्म सन् १९२६)

डा० जगदीश गुप्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में शिक्षक हैं। यद्यपि उन्होंने अपनी खोज का विषय हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन चुना था परन्तु उनकी विशेष रुचि चित्रकला और नयी कविता की ओर है। 'नयी कविता' के नाम से वह एक पत्र भी निकालते हैं।

नयी कविता विषयक आन्दोलन में उनका विशेष हाथ है। प्रस्तुत निबन्ध में उन्होंने नई कविता के विषय में उत्पन्न होने वाले कुछ सन्देहों का उत्तर दिया है। पुरानी कविता में छन्दों में प्रयुक्त मात्राओं और वृत्तों से पद का सन्तुलन होता था परन्तु नये छन्दों में 'तय' की प्राथमिकता दी गयी है। यह निबन्ध, जैसा डा० गुप्त ने आरम्भ में ही कहा है, द्विवेदी जी तथा पं० पद्मसिंह शर्मा के आक्षेपों का उत्तर है।

डा० गुप्त के विचार नई पीढ़ी को कहीं तक पसंद है इसका निर्णय पाठक स्वयं करें।

८. डा० रघुवंश (जन्म सन् १९२१)

आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं। अदम्य साहसी युवक हैं और यरा-बदा पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख छपते रहते हैं। यद्यपि उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा है, भारत के नाट्य शास्त्र के कुछ अध्यायों का अनुवाद भी किया है, परन्तु वह प्रधानतया आलोचक हैं।

उनका प्रस्तुत निबन्ध उनके उस चिन्तन का परिचायक बताता है जो नई कविता के विषय में उन्होंने किया है। यह निश्चयाव है कि व्यक्ति समाज की परिधि से बाहर अपना कोई अस्तित्व रखे। अतएव नई कविता के सामाजिक परिवेश का ज्ञान उसे समझने के लिए अति आवश्यक है। साठक निश्चय ही डा० रघुवंश की सरल शैली द्वारा, नयी कविता जैसे व्यावहारिक विषय के सम्बन्ध में अवश्य लाभान्वित होंगे।

६. लक्ष्मीकान्त वर्मा

नयी कहानी के उन्नायकों में से हैं। प्रगतिशील साहित्य की अनुभूति यजना से असंतुष्ट होकर जब नई कविता का जन्म हुआ तो स्वाभाविकता कि 'नयी कविता' की आवश्यकता और सत्साम्यन्धी कुछ मान्यताओं का विवेचन पाठकों के सामने रखा जाय। और उसके अस्तित्व एवं स्थापत्य की आवश्यकता बताई जाय। अतएव नई कविता के समर्थक अपनी विचारधारा के प्रतिपादन के लिए सभी प्रकार के उपादान जुटाने लगे। किसी ने भौतिकवाद का सहारा लेकर उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया, किसी ने पुरानी परम्पराओं और हड़ियों को जोड़कर नई परम्पराओं को विकसित करने पर जोर दिया। किसी ने शैक्षणिकता का अवलम्ब छोड़कर यथार्थ जीवन के चित्रण को अनिवार्य बताया और किसी ने मनोविज्ञान का आधार लेकर नयी विचारधारा का प्रतिपादन किया।

प्रस्तुत निबन्ध में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा नयी कविता और काव्य यजना की सार्थकता बताई है। उन्होंने विचार के एक बौद्ध को वर्तमान युग की प्रेरणा मानकर नये परिवेश में काव्य-जन अनिवार्य माना है। नयी कविता में जो अहम्वाद दिखाई देता है उसके कारण पर विचार कर यह निष्कर्ष निकाला है कि कवि अपने वैयक्तिक अनुभवों को सदैव सामाजिक अभिव्यक्ति दे रहा है जो अहम्वाद नहीं कहा जा सकता। समस्त निबन्ध पठनीय है।

१०. नन्बदुसारे वाजपेयी (१६०६-१६६७)

हिन्दी के समर्प आलोचक थे । आरम्भ में उन्होंने वयों तक पत्र सम्पादन-कार्य किया और इसमें प्रसिद्धि प्राप्त की । बाद में विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर हिन्दी विभाग की अध्यक्षता की और अन्त में उज्जैन विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद तक पहुँच कर विधाम लिया ।

वाजपेयी जी ने केवल स्वयम् ही प्रभूत साहित्य की रचना नहीं की बरन् अपने शिष्यों की भी एक अच्छी टोली बनाई जिसने समीक्षा-क्षेत्र को अपनी प्रचुर सेवाओं से उसे भरा-पूरा बना दिया । वाजपेयी जी ने बनारस विश्वविद्यालय से एम० ए० किया था । उन्हें प्रसाद जी के निकट सम्पर्क में आने का पूर्ण अवसर मिला । कामायनी भी शर्तक द्वार उन्होंने कवि के धीमूख से सुनी होगी और उनकी भावनाओं के जानने का सुअवसर भी उन्हें मिला होगा ।

प्रसाद जी के गान्धिय के परिवेश में उनका 'कामायनी' विषयक निबन्ध अपनी रिशेपता रखता है । इसीलिए इसे चुना गया है ।

११ डा० सोमनाथ गुप्त (जन्म सन् १६०५)

डा० सोमनाथ का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ । शिक्षा अधिशास में इलाहाबाद में हुई, वहाँ ने सन् १६३० में प्रथम श्रेणी में हिन्दी में एम० ए० किया और उसी वर्ष जलन्त कालेज, जोधपुर में हिन्दी के प्राध्यापक बने । १६६० में महाराजा कालेज, जयपुर में प्रिंसिपल के पद से रिटायर हुए और आजकल विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संरक्षण में खोज विषयक कार्य में संलग्न हैं । हाल ही में राजस्थान विश्वविद्यालय ने उनके शोध प्रबन्ध 'पारसी चिपेटर : उद्भव और विकास' पर डी० लिट् की उपाधि प्रदान की है ।

शायर साहब का प्रधान क्षेत्र खोज है और वह भी हिन्दी नाटक के

विद्युत की शक्ति । अतएव उसके अतिरिक्त विद्युत शक्ति भी है ।
 प्राकृतिक शक्ति के लिये हमें भी सोचना है । जो विद्युत शक्ति को न
 मानते हैं । प्राकृतिक शक्ति में प्रतीति क्या माननी प्रतीति को
 माननीयता का विचार होता है । प्राकृतिक शक्ति, कला-कला के लिए, क
 प्राकृतिक अतिरिक्त शक्ति है और प्राकृतिक शक्ति में प्रतीति का प्राक
 माना जा सकता है ।

१० डा० बन्नेमान्साग मर्तन (जन्म सन् १६११)

मर्तन और शिरी के विचार हैं । क्या में शिरी को शक्ति में
 प्राकृतिक और शिरी शक्ति के प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति
 प्राकृतिक शक्ति के लिए है ।

मर्तन की शक्ति के लिए प्राकृतिक शक्ति का प्राकृतिक और
 प्राकृतिक शक्ति का प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति के लिए
 प्राकृतिक शक्ति को प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति और प्राकृतिक
 प्राकृतिक शक्ति है ।

प्राकृतिक शक्ति में मर्तन की प्राकृतिक शक्ति और प्राकृतिक
 प्राकृतिक शक्ति के लिए प्राकृतिक शक्ति का प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक
 प्राकृतिक शक्ति के लिए प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति में प्राकृतिक
 प्राकृतिक शक्ति का प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति में प्राकृतिक
 प्राकृतिक शक्ति का प्राकृतिक शक्ति है । प्राकृतिक शक्ति में प्राकृतिक

१३. डा० नामवरसिंह (जन्म सन् १६२६)

आधुनिक पीढ़ी के आलोचकों में नामवरसिंह का नाम कौन नहीं
 जानता ? मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उन्होंने आधुनिक कविता और साहित्य
 को परछाई की है । उनकी रचनाओं में उनकी विचारधारा सतर्कता से
 प्रवाहित होती रही है । आजकल भी नामवरसिंह 'आलोचना' पत्रिका
 के सम्पादक हैं ।

प्रस्तुत निबन्ध लेखक की एक पुरानी रचना है—सगमग सन् १८५०-५६ की, जब हिन्दी कविता एक नया मोड़ ले रही थी और हमारे नवीन कवि तार-सप्तको द्वारा हिन्दी काव्य-गगन को अपने स्वरो से झटूत कर रहे थे। उनके दिचार में "... इस दशक के आरम्भ में कवि के सामने सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न अपूर्ण रूप में पड़ा हुआ और कवि ने व्यक्तित्व के सामाजिकरण की आवश्यकता अनुभव की। रोमानी युग के बाद यह धार्यवाद का आरम्भ था।"

१४. डा० रामविलास शर्मा (जन्म सन् १९१२)

अंगरेजी के डाक्टर होने हुए भी रामविलास जी हिन्दी साहित्य में केवल रचि ही नहीं रखने बरन् उसके जाने-माने विद्वान् हैं। उनकी आलोचनाएँ लेखक के गहन अध्ययन, गंभीर चिन्तन और उत्तम मनन का परिणाम हैं। शर्माजी का दृष्टिकोण प्रगतिशील साहित्यिक दृष्टिकोण है। वे प्राचीन के पण्डित और वर्तमान के मण्डन में स्थिर रहते हैं। अंगरेजी साहित्य के अध्ययन के कारण उनकी रचनाओं में एक नवीनता और तर्कव्युद्धता है। उनके तर्क में स्पष्टता और भावाभििव्यक्ति में सरलता एवं बोधगम्यता है।

डा० रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व चटुरंगी व्यक्तित्व है। उसमें गंभीरता है, व्यंग्यप्रियता है और प्रेरणा की अद्भुत शक्ति है। यही कारण है कि उनके चारों ओर जिज्ञासुओं की एक झोड़-सी सगी रहती है।

शर्माजी भारतेन्दु-युग के विशेषज्ञ हैं। भारतेन्दु-युग की उन्होंने बड़ी पंती दृष्टि से देखा है और वर्तमान हिन्दी साहित्य के इस प्रेरणा-स्रोत की अनेक उपधाराओं का विस्तृत वर्णन यदाकदा अपने कई लेखों में किया है।

प्रस्तुत निबन्ध प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की रचनाओं में पाये जाने वाले विभिन्न तत्वों में से एक तत्व पर प्रकाश डालता है।

कवि-शिक्षा : क्षेमेन्द्र-कृत कण्ठाभरण

[आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी]

विजय के ग्यारहवें शतक में काश्मीर में अनन्तदेव नामक एक राजा था । उसके शासन-काल में क्षेमेन्द्र नामक एक महाकवि हो गया है । यह बहुधृत, बहुज्ञ और बहुदर्शी विद्वान् था । उसकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण थी । उसने 'कवि-कण्ठाभरण' नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है । उसमें आपने बताया है कि किन साधनों में मनुष्य कवि हो सकता है और किस तरह उसकी सुखबन्दी कविता बहुराई जाने योग्य हो सकती है । क्षेमेन्द्र खुद भी महाकवि था, अतएव उसके बनाव हुए साधन अवश्य ही बड़े महत्व के होने चाहिए । यही समझकर हम अपने हिन्दी के कवियों के जानने के लिए क्षेमेन्द्र के निर्दिष्ट साधनों का ध्यान में उल्लेख करते हैं ।

कवि होने के लिए पाँच बातें अनिवार्य हैं । वे पाँच बातें ये हैं—

- १—कवित्व-वृत्ति,
- २—शिक्षा,
- ३—समस्यारोप-ज्ञान,
- ४—गुण-दोष-ज्ञान,
- ५—परिचय-धारण ।

अब इन पाँचों का संक्षिप्त विवेचन सुनिए ।

हिन्दी-विषय में कवित्व-वृत्ति बीज-वृत्त से रहती है । उसे प्रकटित करना पड़ता है । जिसमें वह बहो होटी, वह अच्छा कवि बने हा करता । कवित्व-वृत्ति को प्रकटित करने के दो उपाय हैं—दिग्घ और पौरुषेय ।

कवित्व-शक्ति—गरवणी देवी के त्रिसा-मातृका-मन्त्र का जप करना, उमकी मूर्ति का ध्यान करना और उमके मन्त्र का पूजन करना इत्यादि दिव्य उपाय हैं । योग्योप उपाय यह है कि किसी अच्छे कवि को यह बनाकर उमके यथाविधि काव्यशास्त्र का अध्ययन करना ।

कवि बनने की दृष्टि से काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—अल्प-प्रयत्न साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य ।

थोड़े ही अध्ययन में जो सफल-मनोरथ हो जायें, वे अल्प-प्रयत्न-साध्य, अध्ययन में विशेष परिश्रम करने में जिन्हें इष्ट लाभ हो, वे कृच्छ्र-साध्य, जो बरगो तिर पीटने पर भी कुछ न कर सके व असाध्य समझे जाते हैं ।

अल्प-प्रयत्न-साध्य शिष्यों के कर्तव्य गुणित ।

ऐसे पुरुषों को चाहिए कि वे किसी अच्छे साहित्य-ज्ञाता कवि से अध्ययन करें । जो केवल तार्किक या वैचारिक हो उनसे भदा दूर रहें । जो सरस-हृदय हो, स्वयं कवि हो, व्याकरण भी जानता हो, छन्दोग्र्यों का भी पारगामी हो, उसे गुरु बनाना चाहिए । अच्छे-अच्छे काव्यों को उमके मुख से सुनना चाहिए । गायक, प्राकृत तथा अन्योन्य प्रान्तीय भाषाओं के पद्यों का भी सावधान श्रवण करना चाहिए । चमत्कारपूर्ण उक्तियों के विषय में चर्चा करनी चाहिए । प्रत्येक रस के आस्वादन में तन्मग्न हो जाना चाहिए । जहाँ जिस गुण का प्रकर्ष हो वहाँ अभिनन्दन करके आनन्दित होना विवेक-बुद्धि द्वारा भले-बुरे काव्य को पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए । ऐसा करते-करते कुछ दिनों में कवित्व-शक्ति अकुरित हो उठती है और उस शक्ति से सम्पन्न होने पर कविता करने की योग्यता आ जाती है ।

कृच्छ्र-साध्य जनो को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के 'को आद्यन्त पढ़ें' और पूरे विचारपूर्वक पढ़ें । इतिहासों

का भी अध्ययन करें। तात्त्विकों से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उनमें नष्ट होने से बचाते रहें। अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखें तो महाकवियों की शैली को सदा ध्यान में रखें। पुराने कवियों के श्लोकों के पद घोर वाक्य आदि को निकालकर उनकी जगह पर अपने बनाए पाद, पद घोर वाक्य रखें। अभ्यास बढ़ाने के लिए वाक्यार्थ-शून्य पद्य बनायें। कभी-कभी अन्य कवियों की रचना में फेर-फार करके, कुछ अपना, कुछ उनका रखकर नूतन अर्थ का समावेश करने की चेष्टा करें।

☐ जो लोग किनी बड़े रोग से पीड़ित हैं, व्याकरण और तर्कशास्त्र के मनाभ्यास से जिनकी सहृदयता नष्ट हो गई है, अनएव मुनवियों की कविता सुनने में भी जिन्हें कुछ भी आनन्द नहीं प्राप्त होता, उन्हें असाध्य समझना चाहिए। उनका हृदय पत्थर के समान कड़ा हो जाता है, उनकी बोधमना विनकुल हो जाती रहती है ☐

न तस्य वस्तुत्वसमुद्भव स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः ।

न गर्दभो गायति सिञ्चितोर्षि सन्दर्शितं पश्यति नारुणः ॥

उमें चाहे बंसा हो अच्छा गुरु क्यों न मिले और चाहे किनी ही अच्छी शिक्षा क्यों न दी जाय वह कवि नहीं हो सकता। सिखलाने में भी क्या गद्या कभी गीत गा सकता है और हजार दफे सिखलाने में भी क्या अन्धा कभी सूर्य को देख सकता है ?

शिक्षा—कवित्व-शक्ति स्फुरित हो जाने पर क्या करना चाहिए—बिन तरह की शिक्षा से उनकी प्रखरता को बढ़ाना चाहिए—मो भी सुनिए ।

प्राप्त-कवित्व-शक्ति कवि को चाहिए कि वह वृत्त-मूरण करने का उद्योग करे; समस्यापूर्ति करे; दूसरे की कविताओं का पाठ किया करे, वाक्य के भ्रमों का ज्ञान प्राप्त करे; सत्कवियों की संगति करे; महा-कवियों के काव्यार्थ का विचार किया करे; प्रसन्नचित्त रहे; अच्छे वेश

में रहा करे; नाटकों का अभिनय देखे; गाना सुनने का शौक रखे; मोठा-चार का ज्ञान प्राप्त करे; इतिहास देखे; चित्रकारों के अच्छे चित्रों और शिल्पियों के अच्छे-अच्छे शिल्पकार्यों का अवलोकन करे; बीरों का मूढ़ देखे; श्मशान में घोर अरुण्य में घूमे और आर्त तथा दुःखी मनुष्यों के शोकप्रनाप-पूर्ण यवन सुने । इन सब बातों से शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए बहुत जरूरी है ।

परन्तु इतनी ही शिक्षा बग नहीं । घोर भी उसे बहुत कुछ करना चाहिए । उसे मोठा और स्निग्ध भोजन करना चाहिए; धानुषों को मम रखना चाहिए, कभी शोक न करना चाहिए, दिन में कुछ सो लेना चाहिए और थोड़ी रात रहे जागर अपनी प्रतिभा को प्रखर करना चाहिए । उस समय कुछ कविता करनी चाहिए, प्राणियों के स्वभाव को परीक्षा करनी चाहिए; समुद्र-तट और पर्वतों की सीर करनी चाहिए, सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों के स्थान और उनकी गति आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; सब ऋतुओं की विशेषता और उनका भेद समझना चाहिए; शभागों में जाना चाहिए, एक बार लिखी हुई कविता का मशोधन दो-तीन दफे करके उसे खूब परिमार्जित करना चाहिए ।

सुखी होने की इच्छा रखने वाले के लिए अभी और भी बहुत से काम हैं । उसे पराधीनता में न रहना चाहिए, अपने उत्कर्ष पर गर्व न करना चाहिये, पराये उत्कर्ष को सहने की आदत डालनी चाहिए, दूसरे की श्लाघा सुनकर उसका अभिनन्दन करना चाहिए; अपनी श्लाघा सुनने में सकोच करना चाहिए, व्युत्पत्ति के लिए—शिक्षा या विद्यावृद्धि के लिए सबकी शिष्यता स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए, सन्तुष्ट रहना चाहिए, सत्यशील बनना चाहिए, किसी से याञ्चा न करनी चाहिए, ग्राम्य और अश्लील बात मुंह से न निकालनी चाहिए, निर्विकार रहना चाहिए, गाम्भीर्य धारण करना चाहिए, दूसरे के द्वारा किए गए आक्षेप सुनकर विगड़ना न चाहिए, और किसी के सामने दीनता न दिखानी चाहिए ।

इन निशाओं या उपदेशों पर विचार करने में पाठकों को मान्य होगा कि कवि-कर्म वितना बठिन है। विधाता की सारी सृष्टि का ज्ञान कवि को होना चाहिए—लोक में जो कुछ है सबसे उसे अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों को खुद देखना चाहिए और प्राणियों के स्वभाव से भी उसे परिचित होना चाहिए। ये सब बातें इस समय कौन करता है ? फिर कहिए, कोई कवि कैसे हो सकता है ? पिंगल पढ़ लेने से यदि कोई कवि हो सकता तो आजकल कवि गली-गली मारे-मारे फिरने। तुलबन्दी करना और चीज है, कविता करना और चीज।

शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परभावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। धोमेन्द्र की राय है—

“नहि चमत्कारविरहितस्य कवे कवित्व काव्यस्य वा काव्यत्वम्।”

चमत्कारोत्पादन—यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि नहीं, और यदि चमत्कार-पूर्ण नहीं तो काव्य वा काव्यत्व भी नहीं। अर्थात् जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य वा कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता—

एतेन केनचिदनघमणिप्रभेण

काव्य चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।

निर्दोषतेजामपि रोहति कस्य चित्ते

सावण्यहीनमिह यौवनमंगनानाम् ॥

काव्य चाहे कैसा ही निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हो—यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारों से पूर्ण पद न हुआ तो वह, स्त्रियों के सावण्य-हीन यौवन के समान, चित्त पर नहीं चढ़ता।

कविता में चमत्कार माना साथ पिगल पढ़ने धीर रस, ध्वनि तथा अलंकारादि के निरूपक ग्रन्थों के पारायण से सम्भव नहीं। उनके लिए प्रतिभा, साधन, अभ्यास, अवलोकन धीर मनन की जरूरत होती है। पिगल आदि का पढ़ना एक बहुत ही गौण बात है।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम ग़ूब पूब रहे हो, नताएँ तुम पर बेतरह छाई हुई हैं, कलियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहाँ-तहाँ गुञ्जार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। डंगे हटाओ। मेरा प्रियनम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।

इस उक्ति में कोई विशेषता नहीं—इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती। अब एक चमत्कारपूर्ण उक्ति सुनिए। कोई विरहिणी स्वताशोक को देखकर कहता है—नवीन पत्तों से तुम रक्त (गाल) हो रहे हो, प्रियनमा के प्रशमनीय गुणों में मैं भी रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिनीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिनीमुख (बाण) आ रहे हैं। कान्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है; उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी-तुम्हारी, दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया। यह चमत्कार किसी पिगल पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्याग-विवेचन ग्रन्थ के नियम परिपालन का ही फल है।

उस दिन हम एक महायात्रा में कुछ लोगों के साथ गंगातट तक गये थे। यात्री की मृत्यु पञ्चक में हुई थी। शव चिता पर रखा गया। अग्नि-संस्कार के समय एक लकड़ी खिसकी। इससे शव का

गिर हिल गया। इस पर एक आदमी बोला—सकड़ी बिसकने से सिर हिल गया। यह मुनकर दूसरा बोल उठा—नही-नही, अमुक चाचा गिर हिलाकर मना कर रहे हैं कि अग्नि-सस्कार न करो, हम धनिष्ठा पञ्चक में मरे हैं। यह उक्ति यद्यपि एक ग्रामीण की है। तथापि इसमें चमत्कार है। कवि को ऐसे ही चमत्कार लाने का उद्योग करना चाहिये।

गुण-दोष-ज्ञान—वाच्य के पाँच प्रकार हैं—सगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष और गुण-दोष-निर्मित। गुण तीन प्रकार के हैं—शब्द-वैमत्य, अर्थवैमत्य और रसवैमत्य। दोष भी तीन प्रकार के हैं—शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य, रस-कालुष्य। इन सबके लक्षण इनके नाम ही से व्यक्त हैं।

कवि को निर्दिष्ट दोषों में बचने का यत्न करना चाहिए। परन्तु बचेगा उनमें वही जो उन्हें जानता होगा। अतएव कविता-विषयक गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त करना भी कवि के लिए आवश्यक है।

परिचय-चाहता—कवि को सब शास्त्रों, सब विद्याओं और सब कलाओं आदि में परिचित होना चाहिए। क्षेमेन्द्र की आज्ञा है कि तर्क, व्याकरण, नाट्य-शास्त्र, काम-शास्त्र, राजनीति, महाभारत, रामायण, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्नपरीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-सुरग, पुष्प-परीक्षा, इन्द्रजाल आदि सब विषयों का ज्ञान कवि को सम्पादन करना चाहिए। कवियों को पद-पद पर इनमें काम पढ़ना है। जो इनसे परिचय नहीं रखता वह बहुश्रुत नहीं हो सकता और उसे विद्वानों की सभा में आदर नहीं मिल सकता।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[डा० श्यामसुन्दर दास]

जातीय-साहित्य—भौगोलिक कारणों से हो अथवा जलवायु के फलस्वरूप हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अंगरेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके सम्बन्ध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप ही कुछ विभिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फलस्वरूप उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की साधकता भी समझ में आ जाती है। यह सम्भव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर सामयिक जातीय आदर्शों से बहुत ऊँचा उठ जाय अथवा उनके विपरीत पथ का अनुसरण करे, परन्तु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहती है और इसका एक कारण है।

प्रत्येक समय तथा स्वतन्त्र देश का अपना स्वतन्त्र साहित्य तथा अपनी स्वतन्त्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतन्त्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं, हमें वर्तमान स्थिति की इतनी चिन्ता कभी नहीं हुई जितनी भविष्य की चिन्ता रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य

तथा अन्य सुनिश्चित कलाओं में आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिम्ब-मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ सत्ता की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण 'जातीय साहित्य' का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा सभ्यता पुरातन आधारों पर ही स्थिर रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय, सभ्यता और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का संबंध तोड़ नहीं जाता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नये आदर्शों की उद्भासना होती है। जहाँ वास्तविकता में ऐसा नहीं होने पाना वहाँ के नये आदर्शों के स्थापित में बहुत-कुछ कमी है। जातीयता के स्थायित्व के लिए आदर्शों की धारा का जलप्लव रहना आवश्यक है। हाँ, समय-समय पर उस धारा की धमपुष्टि के लिए नये आदर्शरूपी मोलों का उगम मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्य-रूपों नाम्ना की भी होती है। जिन प्रकार किसी जाति के परम्परागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धान्त सहसा गुप्त नहीं हो सके उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता को खो नहीं सकती। जातीयता का खोना कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजि रुमीन ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

“भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई। न तो उसको ठीक-ठीक

समझने वाले हैं और न उसका यथावत सम्मान करने वाले हैं। हमारा कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार मन्चे भारतीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेषकर ऐसी अवस्था में जबकि वे उनकी त्वक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतन्त्र शैलियों को भूल जा रहे हैं।

“आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्र-वृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिए यूरोप भेजने का प्रयत्न करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। भरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।”

हिन्दी में जातीय साहित्य की योग्यता—अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यही छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का वंशगत सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि सस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परम्परा ही हिन्दी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की हो नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी सस्कृत, पाती तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यजित आर्य जाति की स्थायी चित्त-वृत्तियों और उसके विचारों की परम्परागत सम्पत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य-मुख्य

विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिन्दी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे ।

११. हिन्दी की विशेषताएँ—समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है । उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बग पर समार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की साधनता प्रमाणित कर सकती है । जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा हम देश में सामाजिक समन्वय का सकल प्रयास हुआ है ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यत्र कलाओं में भी भारतीय प्रबुद्धि समन्वय की धोर रही है । (साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य गार्ह्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-स्तन हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विरोध भावों के गर्भाकरण तथा एक जलौकिक आनन्द में उनके निर्वृत होन में है । साहित्य के किसी घग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा । भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गए हैं पर सबका अवगत आनन्द में ही विद्या गया है । इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय मर्या में जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करने उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है । वर्तमान स्थिति में उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य की सम्भाव्य उन्नति से है । हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुष्घात नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते । यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ते लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श में दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं । कविता के क्षेत्र में ही देखिए । यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों में मग्न देश निर्गन्त की खरम सीमा तब पहुँच चुका था और उसके सभी अवयवों की

है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं दोनों सत्य हैं चेतन हैं तथा आनन्द-स्वरूप हैं। बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है भेद उत्पन्न करती पानी मत्स्य है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना मन्त्रा स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाता ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(२) भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के ऐकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-सामाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिर्वाधिर्ब विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भाव-नायों और जीवन सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य में लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बाल पाते हैं। सामने की मनोहारिणी तथा मृदु गम्भीर ऋचाओं

प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कल्पित वागनामों का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वागनामजन्य प्रेम में परिणत हो गया था।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ—यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं परन्तु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन में ही मन्तोष करके उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत-बहुत स्थायी भी होता है। ससार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अनतिरिक्त उनमें प्राकृतिक दृश्यो तथा उर्वरता आदि में भी अन्तर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घवायु मरु-भूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इगलैण्ड तथा आयरलैण्ड-जैसे जलावन द्वीप हैं तो चीन-जैसा भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्य से सम्बन्ध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

हिन्दी की देशगत विशेषताएँ—भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निमग्नसिद्ध सुपमा है, उसमें भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु इसकी सुन्दरतम विभक्तियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरस्यल में बहने हुए किसी साधारण से भरने अथवा ताड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा जूँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं। परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादिन शैलमाला पर सन्ध्या

रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उनके मधुर स्वरूप में प्रयोजन होता है, क्योंकि भावनावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जिननी उतारों गिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि हम देश की उत्तरवासी विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत धाँड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परन्तु कुछ प्रेम प्रधान कविता में भारतीय मनोरम दृष्टि को गहराई में जैसी रहस्यवादी उक्तियों का अत्यधिक मरस तथा हृदयघाती बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक दशगत विशेषता है।

हिन्दी के कलापक्ष की विशेषताएँ—य जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अनिश्चित उतारें कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनावृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष में हमारा अभिप्राय केवल शब्द-मधुरता अथवा छन्द रचना तथा विविध अलंकारिक प्रयोगों में ही नहीं है। प्रयुक्त उमम भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रायः कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विशेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उनके व्यक्तित्व में परिचित हो सकते हैं परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कवियों में प्रथमपुरुष एवम्बचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्यपुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। संस्कृति में हमी रिभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तित्व तथा अव्यक्तित्व नामक विभेद हुए हैं परन्तु ये विभेद सामान्य में कविता के नहीं हैं, उनकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यक्ति होता है, केवल इस अन्त्यज्जम के हिस में भिन्न रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मवचन अथवा आत्मनिर्देशन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यक्त करने के लिए दर्शनात्मक प्रणाली का अग्रणी चरण बिना जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी दर्शनात्मक शैली की अधिकता तथा पहली की कमी का रस जाना जाता है। यही कारण है कि यहाँ

के व्यञ्जक शब्द हिन्दी में नहीं मिलते । छड़ीबोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटवता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और 'सरसाना', 'विकसाना' आदि वृजभाषा के रूपों को भी छड़ीबोली में लेने लगे हैं । हिन्दी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परन्तु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषाशास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा । संस्कृत के स्त्रीलिंग 'देवता' को हिन्दी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है । इसके विपरीत संस्कृत के 'कर्म' तथा 'कार्य' को हिन्दी में 'काम' या 'काज' बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है । कभी-कभी तो हम अपने 'स्वभाव-वैषम्य' के कारण शब्दों की सायंकता का व्यर्थ विरोध करने हैं । प्रातःकालीन सुषमा की सच्ची चोतकता 'उषा' शब्द में है । हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह 'मरस्वती' के समकक्ष समझी गई थी । उषा के उपरान्त जब सुषुप्त ससार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जगम पदार्थ चेतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय-द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता बहलाएगी, 'प्रभात' के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अन्तर न पड़ेगा । हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिन्दी का शब्द-कोश बहुत-कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं । कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकास-त्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है । यदि ऐसा न हुआ करे तो हिन्दी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता सन्तोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है ।

हिन्दी में भारतीय संगीत—भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता

के ध्येयक शब्द हिन्दी में नहीं मिलते । खड़ीबोली में तो त्रियापदों का अभाव इनका छटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल कर नवीन त्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और 'गरमाना', 'बिखमाना' आदि व्रजभाषा के रूपों को भी खड़ीबोली में लेने लगे हैं । हिन्दी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परन्तु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता इतना मेरे विचार में भाषाशास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा । सस्कृत के स्त्रीलिंग 'देवता' को हिन्दी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है, पर यह तो केवल एक उदाहरण है । इसके विपरीत सस्कृत के 'कर्म' तथा 'कार्य' को हिन्दी में 'काम' या 'काज' बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है । कभी-कभी तो हम अपने 'स्वभाव-वैषम्य' के कारण शब्दों की गार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं । प्रातःकालीन मुषमा की सच्ची द्योतकता 'उषा' शब्द में है । हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस मुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह 'सरस्वती' के समकक्ष समझी गई थी । उषा के उपरान्त जब मुषुप्त ससार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्यावर-जगम पटार्यं चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, तब भाषा-शोतक

है कि उममें स्वरों तथा लय का गामजम्य स्थापित किया गया है ।
 भारतीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के माम-
 य या राग की बहुत-कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यन्त
 धीन काल में गीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय
 णों का निर्माण भी होना आया है। यहाँ का प्राचीन गीत यद्यपि अपने
 रूप में अब तक मिलता है, परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देश-
 ों के फलस्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक विभिन्न शाखा भी हो गई
 सका विकास निरन्तर होता रहा। हिन्दी साहित्य के विकास-काल में
 'देशी' संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत
 छुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिणियों के अनेक
 ों का ठीक-ठीक अभिव्यजन करने की क्षमता जितनी हिन्दी ने दिखलाई
 थी ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें
 ों में है वैसे अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में नहीं हुआ।

हिन्दी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ—हमारे साहित्य पर उप-
 क्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी है। इनमें
 तिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिन्दी साहित्य के विकास
 घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा जिनकी छाप हिन्दी साहित्य पर स्थायी
 ही तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी साहित्य
 प्रारम्भिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा
 क पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन
 —प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उदभावनाओं की जो

के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक-सी गई थी और तत्कालीन सभ्यता में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र के भी नहीं रह गया था। सभ्यता बंदिनी अलवारों में लड़ी हुई जीवनहीन राक्षसी की भाँति निःश्रम तथा निरमर हो चुकी थी। हिन्दी के स्रजन्त्र विनाश में सभ्यता के इस स्वरूप ने बड़ी-बड़ी स्वायत्त टापी। तब तो हमारे परिणामस्वरूप हिन्दी बाध्य का क्षेत्र बहुत-बहुत परिमित हो गया, और दूसरे हिन्दी भाषा भी स्वाभाविक रूप में विकसित न होकर बहुत दिना तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिन्दी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुर्परिणामों का निवारण करने का सफल चेष्टा न की होती तो हिन्दी की आज वैसी स्थिति होती यह टीक-टीक नहीं कहा जा सकता। योद्ध है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होने से हिन्दी के कवि फिर सभ्यता साहित्य के पिछले स्वरूप में प्रभावान्वित होकर उगवा अनुकरण करने लगे जिनके पलस्वरूप भाषा में तो गरजता तथा प्रौढ़ता आ गई परन्तु भाषा की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

७. ध्यान देने की दृष्टि यह है कि हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण दृग अशान्ति, निराशा तथा पराधीनता का दृग रहा है। हिन्दी के प्राग्निभक्त बाल में दश स्वतन्त्र अवस्था था, परन्तु उम्र समय तक उसकी स्वतन्त्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थी और उसके सम्मुख आ-परशा का कठिन दृग उपस्थित हो चुका था। देश के लिए वह हलचल तथा अशान्ति का दृग था। उसके उपरान्त यह दृग भी आया किन्तु देश की स्वतन्त्रता लुप्त हो गई और देश के अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक दोहरे-बहुत अन्तर में बेगो ही परि-
तिष्ठित बनी है।^१ हमारे सम्पूर्ण साहित्य में बरफ की जो एक हथेली

१. यह बात जिस समय लिखी गई उस समय भारत पराजित था, अब यह बात संपूर्ण नहीं है।—क.स.प.७

यह है कि उगम गंगा तथा गज का सामंजस्य स्थापित किया गया है।
 मूलोपीय संगीत में समय पर अधिक ध्यान दिया गया है और गानों के ध्वनि-
 जम्ब का गान की बहुत कुछ अनिवार्यता की गई है। इस दृष्टि में प्रचलित
 प्राचीन काल में संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक मधोमार्गीय
 ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ गया है। गानों का प्राचीन संगीत यद्यपि अनेक
 सुन्दर रूप में अब तक मिलता है परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देश-
 भेदों के फलस्वरूप उगरी 'देसी' नामक एक विभिन्न भाषा भी हो गई
 जिसका विकास निरन्तर होता रहा। हिन्दी साहित्य के विकास-काल में
 'देशी' संगीत प्रचलित हो चुका था, अब उगम 'देसी' संगीत का बहुत
 कुछ पुष्ट पाया जाता है। इसके अनिश्चित रागों और रागिणियों के अनेक
 भेदों का ठीक-ठीक अभिव्यक्ति करने की क्षमता जितनी हिन्दी ने दिखाई,
 साथ ही जितने सुचारु रूप में संगीत के अन्य अंगों का विकास उगम
 हुआ है वंसा अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ।

हिन्दी की दो अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ—हमारे साहित्य पर उन्-
 मुक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी है। इनके
 अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिन्दी साहित्य के विकास
 से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा जिनकी छाप हिन्दी साहित्य पर स्थायी
 नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी साहित्य
 के प्रारम्भिक युग के पहले ही समृद्ध साहित्य उन्नति की चरम सीमा
 तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन
 रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की ओर
 प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्रन्थों
 का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई
 थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना
 सत्वासीन साहित्यकारों के लिए असम्भव-सा था। वे नियम भी ऐसे-वैसे
 न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कही-कही बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्होंने

पड़वर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति स्व-सी गई थी और
 संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र को भी नहीं
 था। संस्कृत कविता अलंकारों में नदी हुई जीवनहीन कर्मिणी
 निष्प्रभ तथा निर्मार हो चुकी थी। हिन्दी के स्रजनत्र विकास
 के इस स्वरूप में बड़ी-बड़ी गकावटें डाली। एक तो इसके
वरूप हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत-बहुत परिमित हो गया, और
दो भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बहुत दिनों
 अवस्थित बनी रही। यदि हिन्दी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा
 से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न
 की तो हिन्दी की आज वैसी स्थिति होती, यह ठीक-ठीक नहीं कहा
 जा सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होने ही
 के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप में प्रभावान्वित
 उमका अनुसरण करने लगे, जिसके फलस्वरूप भाषा में तो गरलता
 मोटना आ गई, परन्तु भाषा की नवीनता तथा मौलिकता बहुत
 गनी रही।

ज्ञान देने की दूसरी बात यह है कि हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण युग
ने, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिन्दी के प्रागम्भिक
 में देश स्वतन्त्र अवस्था था, परन्तु उस समय तक उसकी स्वतन्त्रता
 घायल पड़ने लग गई थी और उसके सम्मुख आक्रमण का कठिन प्रश्न
 पस्त हो चुका था। देश के लिए वह हथकड़ी तथा जगन्नि का युग
 । उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट
 गई और देश के अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजयनीय शासन
 प्रतिष्ठा हो गई। तब से जब तक सोते-बहुत अन्तर से वैसी ही परि-
 ति बनी है।^१ हमारे सम्पूर्ण साहित्य में कल्याण की जो एक हथकड़ी-सी

१. यह बात जिस समय लिखी गई उस समय भारत स्वतन्त्र था, जब यह बात
 गून्धी है।—सम्पादक

अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिन्दी के समस्त साहित्य में नाटको, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्याङ्गों का जो अभाव दिखलाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही जनका इतिहास हुआ। परतन्त्र देश और कर ही क्या सकता था।

अभिव्यक्ति का यह निराला रूप अपना स्वयन्त्र नाश्वर्य रखता है। मोती के भीतर छारा तो जैसा नरनर। हाँवा है यँमो हो कान्ति को नरनर। अक्ष में नाश्वर्य नहीं जानो है। इन् नाश्वर्य का संस्कृत-तद्दि-य में छारा और विच्छिन्ति के द्वारा कुछ लोगो ने निरुद्धि। १४५५ या। गंध और अर्वा स्वाभाविक वक्रता विच्छिन्ति, अर्वा घाट कान्ति का गूढ़न करने है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। 'विदग्ध-मयी भगिति' में शब्द का वक्रता और अर्थ का रकता और वाक्यान्तों का रूप में अवस्थित होता है। यह रम्यच्छापान्तर-मार्गों वक्रता वगैरे में लेकर प्रत्यक्ष तक में होती है।

कभी-कभी स्वानुभव-संबन्धीय वस्तु को अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है— 'वे आँखें कुछ कहती है।' किन्तु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया। यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तडप उत्पन्न कर सकता है। कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुतभ थी की बहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक-प्रयोगों की भी थी, किन्तु अन्तर-अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

‘निरहङ्कार-मृगाङ्कु’, ‘पृथ्वी गतयोवना’, ‘सर्वदनामिवाभ्वर’, भेष के लिए ‘जनपद-बधु-लोचनं पीयमान या कामदेव के कुमुम शर के लिए ‘विश्वमनीयमाधु’ ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य में अधिक आन्तर-सादृश्य को प्रकट करने वाले हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्तिएँ बहुत मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है वह विचित्र है। अलङ्कार के भीतर आने पर भी ये उनमें कुछ अधिक हैं।

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके महीं, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस रंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। बाकु या शंख की तरह यह सीधी वक्त्रांति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब ‘वाहनि-विवल वायो न मुञ्चति चेतनाम्’ की विवशता वेदना को शून्य के साथ चिर-बन्धन में बाँध देनी है, तब वह आत्म-स्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छाया-वाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सामूहिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चतम-साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्तल के शब्दों में ‘अतिशान्त प्रसिद्ध व्यवहार मार्ग’ के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ बहि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति किष्टत्व हो गई हो, शब्दों का चलाव टोका न हुआ हो, हृदय में उगरी स्पर्श न होकर सन्निध्य में ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का टीका नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-भाव हो वास्तविकता का स्पर्श न हो, देश

छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति काव्यगत व्यवहार में ले कर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद को कहा जा सकता है।]

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भूमिका पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-ध्यान तथा उपकार-वशता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की शेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके स्व समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

साहित्य का मूल्य

[अ० गुलाबराय]

साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का सम्बन्ध मोल-भाव या त्रय-विक्रय की मनोवृत्ति में है। उस शब्द के सुनते ही वर्तुलाकार रजनछण्टों का जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ हो गया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओं का आकर्षक रूप सामने आ जाता है। अंगरेजी भाषा में 'वैल्यू' शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यव्यञ्जना में निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विगुद्ध कलावादी, जो कला को सब मूल्यों से परे मानते हैं, साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा-मसीह से आवेश में आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगो ने साहित्य-जैसे पावन देव-मन्दिर को त्रय-विक्रय की हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्तरूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यव्यञ्जना से मुक्त भी है तथापि वह मूल्य का ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तु के निर्माण के पश्चान् मिलता है। निर्माण से पूर्व वही मध्य-रूप से प्रयोजन कहना है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनों के ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियों के शोभ की निवृत्ति के अर्थ हमको मूल्य शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। साधारणतया हम उसी वस्तु को मूल्यवान् कहते हैं जो या तो सीधे तौर से हमारे उपयोग में आ सके या हमारे लिए उपयोग की वस्तुओं को जुटा सके या भविष्य में जुटा सकने की सामर्थ्य रखे। धन से मूल्य का प्रमुख रूप इसीलिए माना

है कि उनके द्वारा हमको बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। हम उपयोगी उगी वस्तु को कहते हैं जो हमारी निम्नी आवश्यकता को पूर्ति कर सके। कूड़ा-कचरा जब हमारी निम्नी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है, किन्तु वही जगह धनकर हमारे उद्यान के फूलों या गोभी-टमाटर के उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धि में गहायक होता है जब हमारी एक आवश्यकता की पूर्ति के कारण उपयोगी और मूल्यवान् बन जाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत् में ही सीमित नहीं रहती, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

[कलावादियों की कला भी जो उपयोगिता की अपावन गन्ध से परे समझी जाती है अपनी सौन्दर्य-जन्य प्रगल्भता देने की शक्ति और शमन के कारण उपयोगी कही जा सकती है। संगीत भी कलान्त मन को विधात करने के कारण उपयोगिता के क्षेत्र के बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्श की पूर्ति के लिए प्राणों की भी आहुति देने में आना-कानी नहीं करता, उसके लिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्ति में उसकी विस्तृत आत्मा को परितुष्टि होती है।] एक धार्मिक व्यक्ति घर-बार की चिन्ताओं को छोड़कर हरिभजन में मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतम से मिलन का साधन समझता है। राजरानी मीरा ने अपने प्रभु गिरिधर-नागर के लिए राजवैभव, लोक-स्वाज और कुल-मर्यादा को तिताञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भाव की पुष्टि होती थी। कोई थकालु भक्त मासिक 'कल्याण' के लिए डाकिये की अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसनप्रिय-सज्जन टाइम्स और इण्डिया के "क्रॉस वर्ड पज़ल्स" के लिए न्यूज-एजेंट की दूकान के दिन में दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

ध्यानि का गुप्त गीताका ये उतर उदासी है। उसी गामार्थिता हमी का पत्र है। हमी के कारण वह आधार धोर नीति के पत्र में जाता है, यही प्रार्थना अनन्ता में एका व्याप्ति बनती है। दूसरे के गीतों ने हम एका का गामार्थिता प्रार्थना का व्यापक आधार माना है। भारतीय मनोविज्ञानों ने हम एका की प्रार्थना का व्यापक आधार माना है धोर उगता सम्बन्ध विज्ञानमय काय में व्याप्ति दिया है। उसी आधार पर भारतीय एकात्मता की प्रार्थना हुई। कुछ पश्चान्व दार्शनिकों ने भी 'गुप्त-ईशा' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय बोर हमारे भी उँचा है। उसमें ज्ञान-ज्ञान-मैत्र की प्रियुटी की एका हो जाती है। बला अपने परम विभाग में हमी व्यय की धोर अग्रसर होती है। हमीनिष्ठ रम की वाप्य की आत्मा माना है धोर उसे अज्ञानन्द मनो-दर कहा है।

आज सायद हम उच्च दिगाने वाले मनुष्य के चिन्तन को सुनने में थक गये होंगे धोर कहेंगे कि साहित्य में यह बंभुग दार्शनिक राग बढो छेड़ा गया। साहित्य मृगमि जीवन है, जीवन का ही आत्म-चिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते। हमारे यहाँ का साहित्य शब्द 'निटरेचर' में कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्य में 'नहित' 'दरदुई' होने का सम्बन्ध का भाव लगा हुआ है—“सह एव सहित तस्य भाव साहित्यम्।” दूसरी व्युत्पत्ति है “हितेन सह सहित तस्य भाव साहित्यम्।” साहित्य की इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों से हमको इन मूल्यों के प्रश्न को हल करने में सहायता मिलेगी। यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है। साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथी के पैर के समान सब के पैर आ जायें अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं धोर देवताओं के समान कोई छोटा-बड़ा नहीं? यह प्रश्न ठेढ़ा है। सब

लोग अपने-अपने पक्ष को महत्ता देकर अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापते हैं। 'भिन्न रचिहि लोक' की बात हम समस्या को घोर भी जटिल बना देती है। सब मनुष्यों को एक लाठी से हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियों के साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुणाना' और कुछ बिहारी के साथ कहेंगे "तवीनाद कवित्त रम गरम राग रतिरम, अनवृद्धे बूढ़े, निरे जे बूढ़े सब अद्भुत।" मनोविज्ञान ने भी 'इन्द्रोवट' (अन्तर्मुखी) और 'एक्स्ट्रोवट' (बहिर्मुखी) दो प्रकार के टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्द्रोवट बहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवट के अन्तर्गत आते हैं। ये दोनों टाइप किसी घण में एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते। व्यक्तियों की व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइपसम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य के लिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावान्मय, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में किसी एक को प्राधान्य देना चाहिए या सब को। हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनका भी इन्हीं मूल्यों में सम्बन्ध है। धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों में है, काम में मोन्दर्य और बला सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमें से किसी एक को भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्ष को चाह हम थोड़ी देर के लिए बाना-ए-ताब रख दें, बिन्तु इन तीन को हम नहीं छोड़ सकते और बरीब-बरीब तीनों का बराबर महत्त्व है। किसी एक को भी प्राधान्य देना जीवन का मनुष्यन विनाशना होगा। महाशय पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने अपने भाई भरत जी को प्रश्नो द्वारा नीति का उपदेश देने हुए पूछा था कि बही अर्थ से धर्म या धर्म से अर्थ से तो बाधा नहीं पड़ती अथवा काम ने धर्म और अर्थ में बाधा तो नहीं पड़ती ?

वद्विचर्येण वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिमोमेन कामेन न विवाधये ॥

इस प्रकार भीरामचन्द्रजी ने भरतजी को अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम तीनों ही के समन्वय का उद्देश्य दिया था। यही समन्वयदृष्टि भारतीय दृष्टि है। हमारे यहाँ के काव्य-गमोक्तियों ने आनन्द में सब मूल्यों का समन्वय किया है। वे लोग यग घोर अर्थ के भौतिक उद्देश्यों में बरकर पर-निर्वृति के आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं।

काव्यं यशमेधं हृते ध्वजहारिदे शिवेतरक्षणये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तागमिनतपोरदेशयुजे ॥

भामह ने भी काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन घोर बनाम वैपुष्य उत्पन्न करने वाला तथा प्रीति घोर-वीरि की प्राप्ति कराने वाला बताया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यद्यक्षय्य कलामु च ।

प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों में ऊँचे अग्रज है, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करने। भौतिक मोक्षानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है।

साहित्य का मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोण में कर सकते हैं। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणार्थ, महत्त्वाकांक्षाएँ कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकार के मानों के अथवा मूल्यों के समन्वय की ओर ले जाता है, वही महासाहित्य है। साहित्य का सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि-प्रधान है। आचार्य बुतक शब्दोत्तर के साथ और वाच्य के वाच्यांतर के साथ मेल को कहा है —

“गाहिनी इत्यत्रापि यथायुक्तिः स्वजानीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्य परस्परस्पर्द्धित्व-संक्षणमेव विवक्षितम् ।”

कुन्तल ने शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है। यथा—

शब्दायौ संहितौ वचो बहिष्यापारसातिनौ ।

वचो व्यवस्थितौ वाच्यं तद्विवाह्यादकारिणौ ॥

इसलिए वचोक्तिवाद का बोरे अभिव्यञ्जनावाद से नादात्म्य करना उचित नहीं ठहरता। साहित्य की दूसरी व्युत्पत्ति है, “हितेन सह सहित तस्य भाव साहित्यम् ।” साहित्य के दोनों ही अर्थ हमको समन्वयभाव और लोक-मंगल की ओर ले जाते हैं। जो साहित्य मनुष्य-जीवन में उसकी सभी वृत्तियों और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर ले जाता है, वही हमारे लिए मान्य होगा। इस साहित्य को चाहे प्रगतिवाद कहे, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद ।

प्रगतिवाद ने आर्थिक मूल्यों को प्रधानता दी है। वह अन्य मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो वह एकाङ्गी ठहरकर इस आदर्श से गिर जाता है। छायावाद मनुष्य की कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्य पर भी अधिक बल देता है। किन्तु वह भी आर्थिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। आजकल के छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्यों की ओर सचेत होने जाते हैं। कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा समन्वय की वे शब्दों में छायावाद का वापसी सौन्दर्य मूल्य-सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है। स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है। सौन्दर्य का आधार भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षण के वह अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है। रवीन्द्र बाबू ने इस पर ही कुछ कहा है—

“ओ वॉमन, दाउ आर्ट हाफ ड्रीम एण्ड हाफ रियलिटी ।”¹

1. “O, Woman !! thou art half dream and half reality”

जायेंगे। वे सौन्दर्य के ढाँचों के रूप में वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तु के ढाँचे छोड़ते और निर्मल्य होंगे और बिना ढाँचों के सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विष्टि नहीं आ सकेगी। वाय्व की आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रुढ़िवाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का विशाल और गतिशील निक्षेप होगा। भविष्य का कलाकार, जीवन के भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों को श्रद्धा के सौन्दर्यपूर्ण ढाँचों में ढालकर प्रिय बनायेगा। वह सौन्दर्य को केवल वायवी न रखकर उसको पृष्ठ और मासक बनायेगा और अचल तथा स्थूल में भी वायवी-सौन्दर्य की प्राणप्रतिष्ठा करेगा।

शुक्लजी और छायावाद

[डा० देवगज]

एक बात सभी स्वीकार करने है कि डॉ० रामचन्द्र शुक्ल बहुत उच्च क्रांति के आलोचक थे। वे एक आलोचक किसे कहते हैं? हमने अन्त में लिखा है कि आलोचना काल के तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं, अर्थात्—

१—कला-कृतियों के सम समान की क्षमता,

२—कला-कृतियों को समझ भयान सीमा बनाते वाले लोगों का बौद्धिक निष्पन्न करने की शक्ति, और

३—सामाजिक के आधार कृत्रिमता या मानसिक की योजना।

शुक्लजी में ये तीनों शक्तियाँ समुदायिक भाषा में वर्तमान थीं, पहली दो कुछ अधिक और, शायद, तीसरी कुछ कम। कुछ विचारों के एक समुदायिक समीक्षक थे।

उनका का मत वैयक्त हमारा ही नहीं है। श्री नन्ददुलारे कात्रोरी के अनुसार 'साहित्य-समीक्षक' की विविध में सबसे बड़ी बात शुक्लजी में यह नहीं है कि उन्होंने उत्कृष्टतम वाक्य को निम्नतर में अलग किया, बल्कि उन्होंने यह ज्ञान दिया कि हम भी उस अन्तर का पहचान करें। ... शुक्लजी, जामुनी और मुर की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी आलोचना को मुख्य भूमि पर स्थापित किया।^१ यह वाक्य्य समा-लोचक शुक्लजी की व्यावहारिक एवं शैक्षणिक दोनों शक्तियों का प्रतीक करता है। श्री नगेन्द्र ने लिखा है—'शुक्लजी की प्रतिभा अपरिमित थी।

उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में गजब की मजबूती, धीर प्रति-
पादन में अपूर्व प्रीति थी।^{१२}

यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—इतनी उच्च कोटि के आलो-
चक होते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य (अर्थात्
सृजनात्मक साहित्य) को वहाँ तक प्रभावित किया, वर्तमान हिन्दी के
बलाकार अथवा कवि वहाँ तक उनकी प्रतिभा से सामान्वित हो सके ?
इस प्रश्न पर विचार करने से एक विचित्र परिस्थिति सामने आती है,
वह यह है कि जहाँ आलोचक शुक्लजी का प्रायः सभी विचारशील साहित्य-
प्रेमियों ने सोहा माना, वहाँ उनके समकालीन कवियों पर उनका विशेष
प्रभाव न पड़ा। कहा जा सकता है कि कवि अथवा बलाकार
आलोचकों से प्रभावित होकर मृष्टि नहीं करते। यह ठीक है,
अधिकांश बलाकार महान् आलोचकों से अप्रभावित नहीं रहते। वस्तु-
स्थिति यह है कि समर्थ आलोचक परोक्षरूप में, पाठकों की रचि एवं
मूल्यांकन के नियन्त्रण द्वारा, समसामयिक लेखकों को प्रभावित करता है।
आश्चर्य की बात यह है कि शुक्लजी इस परोक्षरूप में भी समकालीन
छायावादी काव्य और उमरे मूल्यांकन को प्रभावित नहीं कर सके। इसका
यह मतलब नहीं कि छायावाद की आलोचना में शुक्लजी को माफी या
अनुपायी नहीं मिले, किन्तु वे अनुपायी और माफी प्रायः उन लोगों में
मिले जिनकी साहित्यिक भक्तवृत्ति युग के अनुकूल नहीं थी और जो
अपेक्षाकृत पुरानी रचि एवं विचारों के थे।

किन्तु स्वयं शुक्लजी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे
आधुनिक विचारधाराओं में अनभिज्ञ थे। नरेंद्र के शब्दों में उन्होंने
‘पाश्चात्य एवं पौराणिक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था।’
वे पश्चिम के प्र० चिडहॉम जैसे अद्वैतवादी समीक्षक-विचारकों से सुप्रसि-

गित थे। गाथ ही—इस तिर सगन्द की उद्भूत कर रहे हैं—‘जहाँ जो छायावाद पर प्रहार किए थे वारी समझ-बूझकर दिये।’ तिर क्या कारण था कि उनके द्वारा की गई छायावाद की आलोचना लोगों को प्रसन्न न हुई थी? उमरा छायावाद की प्रगति पर प्रायः कुछ भी प्रभाव न पड़ा ? तिरों दस्तावे में छायावाद की जो अवनति हुई है उमरा मुख्य कारण प्रगतिवादिता का विरोध है, न कि शुक्लजी की आलोचना। (महः परिस्थिति इन बातों निश्चय करती है कि शक्तिपूर्ण आलोचना कला-कारों को अप्रभावित नहीं छोड़ती।) शुक्लजी की इस प्रभावहीनता का क्या कारण था ? क्या इसका कारण शुक्लजी की कोई गम्भीर कमी थी, अथवा तत्कालीन वाद्य के समर्थकों की अगुणप्राप्ति।

क्या छायावादी वाद्य के अनुशीलन में शुक्लजी की अपूर्व रसप्राप्ति, उनकी गम्भीर और पैनी अन्तर्दृष्टि, फँस कर गई थी ? अथवा वे नूतन काव्य के प्रति अकारण दृष्ट या अनुसर थे ? हमारी समझ में ये दोनों ही व्याख्याएँ ठीक नहीं हैं। शुक्लजी उन व्यक्तियों में थे जो हिन्दी के सर्वांगीण विकास के लिए निरन्तर उत्सुक ही नहीं, प्रागपण से प्रयत्नशील भी थे, और यदि वे छायावाद से मरते दम तक समझौता न कर सकें तो इसका कारण यही था कि उनकी रस-प्राप्ति की वृत्ति को उसमें गम्भीर कमियाँ दीख पड़ती थी।

शुक्लजी अपने समसामयिक काव्य-साहित्य एवं तत्सम्बन्धी आलोचना को विशेष प्रभावित नहीं कर सके, इसके हमारी समझ में तीन मुख्य कारण थे :—

(१) शुक्लजी के प्रतिपक्ष में विश्व-विधुत, नोबिल-पुरस्कार-विजेता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। रवीन्द्रिक काव्य की, जिसके अनुकरण में छायावाद का जन्म हुआ था, व्याप्ति और छाया के बिना वह शुक्लजी के विरोध को सहकर खड़ा रह सकता, इसमें सन्देह है। उस काल के हिन्दी

आश्चर्य की बात है कि साम्प्रदायिक रहस्यवाद के कड़े समीक्षक होते हुए भी शुक्लजी स्वयं साम्प्रदायिक ढंग की आलोचना में फँस गए। यह साम्प्रदायिकता और परम्परावाद कहीं-कहीं बहुत स्थूल हो गया है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय भक्ति-काव्य अथवा भक्ति-पद्धति रहस्यवाद का आधार लेकर नहीं चली और कबीर आदि का रहस्यवाद विदेशी वस्तु थी। किन्तु क्या विदेशी होने से ही रहस्यवाद हेय हो गया? आज के युग में यह मनोवृत्ति संगीर्णता-सूचक मालूम पड़ती है। इसी प्रकार शुक्लजी की यह मिद्ध करने की लम्बी-चौड़ी कोशिश कि अज्ञात अथवा अरूप के प्रति प्रणय-निवेदन नहीं हो सकता, उनकी बात सुनी जाने में बाधक सिद्ध हुई। 'जगत् का व्यक्त प्रसार ही भाव-संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्य-कल्पना की कोई वास्तव सत्ता नहीं, वह असत्य है'—शुक्लजी के इस मन्तव्य में सत्य का काफी अंश है, परन्तु उसे उसके मिथ्यांश से अलग रखना कठिन काम है। शुक्लजी के विरोधियों ने उक्त मन्तव्य के मत्यांश को देखने की चेष्टा नहीं की, यह उन्हीं का दोष नहीं था।

यह अनिवार्य था कि शुक्लजी के विरोधी और छायावाद के समर्थक उनकी इन गलतियों से लाभ उठाते। उनके लिए यह सरल हो गया कि वे शुक्लजी की ऐसी धारणाओं की ओर सकेत एवं उनका सरलता से निराकरण करके यह कह सकें कि शुक्लजी ने छायावादी काव्य को समझने में भूल की है और उनकी मत्सम्बन्धी आलोचनाओं का विशेष महत्त्व नहीं है।

किन्तु यही छायावादी युग के माहित्यको से भूल हुई है। शुक्लजी की विवेचना भले ही कहीं-कहीं अभीष्ट सीमा लाँच गई हो, पर उनकी सम्प्राप्तिता कभी बुद्धित नहीं हुई और यदि छायावादी कवि तथा आलोचक उनकी विविध समीक्षाओं पर ज्यादा ध्यान देते तो हिन्दी-

साहित्य को ज्यादा लाभ होता। तब छायावाद-युग में अधिक संप्राण काव्य-सृष्टि होती और उसका ऐसा नाटकीय पनन भी न होता। बात यह है कि जहाँ-जहाँ शुक्लजी ने छायावाद को प्रवृत्त काव्य की बमौटी पर बगने की चेष्टा की है, वहाँ उनकी आलोचनाएँ नितान्त मार्मिक और प्रवाश देने वाली हुईं। उनकी ऐसी आलोचनाएँ हमारी अपनी धारणाओं के बहुत निकट है। श्रेष्ठ यही है कि अपनी छायावाद सम्बन्धी समीक्षा के इस पहलू को शुक्लजी ने सर्वेनित ही किया, पल्लविन नहीं। हमारा विश्वास है कि उनकी ये सर्वेनित आलोचनाएँ छायावाद की प्रवृत्त बमजोंगियों का जितना सफल उद्घाटन कर सकी है, उतना न तो 'काव्य में रहस्यवाद को सैद्धान्तिक समीक्षाओं में हाँ मक्का है और न आधुनिक प्रगतिवादियों के बटूर-मूलक जिहाद में।

छायावाद की प्रवृत्त आलोचना में शुक्लजी ने जिन तीन-चार बाणों पर जोर दिया है उनका महत्व आज भी अधुण है। अब उनका दायित्व अप्रामाणिक न होगा। छायावाद के सम्बंधकों ने (और उनमें महादेवी जी भी सम्मिलित है) इन आलोचनाओं का उत्तर देने की विनम्र चेष्टा नहीं की। यह परिस्थिति जहाँ हम बात का प्रमाण है कि ये आलोचनाएँ आवश्यक और, स्पष्टता एवं चिन्तनात्मक आधार के साथ नहीं रखी गईं, यहाँ यह दावा बात का भी विज्ञान है कि अभी तक हिन्दी-आलोचना विवेकपूर्णतात्मक गृह्यताओं में बखतर खरना चाहती है और परमवृत्त स्थूल नैतिक-राजनीतिक और सभी-सभी दार्शनिक दावों का मन्त्र देने की अभ्यस्त है। शुक्लजी की अंशिक महत्त्वपूर्ण किन्तु कम प्रसिद्ध आलोचनाएँ निर्मात्रिय हैं —

(१) प्रथमतः शुक्लजी का कहना है कि छायावादी रीतियों में अग्निति का अभाव है। इसे भय है कि हिन्दी-आलोचकों ने छायावादी काव्य को इस बमौ के आदाम और विचार का सभी दृष्टि अनुमान नहीं किया।

शुक्लजी ने भी विम्वृत विश्लेषण द्वारा उसे हृदयगत कराने का प्रयत्न नहीं किया। उक्त दोष का कारण, उनकी मम्मति में, भावों एवं भावनाओं के अपहरण की प्रवृत्ति है (दे० रहस्यवाद, पृ० ७३)। किन्तु प्रवृत्ति साधारण कवियों एवं छायावाद के प्रारम्भिक काल में ही प्रकट हो सकती थी। इसके विपरीत "अगामञ्जम्य" नाम की चीज छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की प्रौढतम रचनाओं में श्रेष्ठतम है। अतः कमी का अधिक विगद विश्लेषण अनेकित था, इसलिए भी कि वह छायावादी अस्पष्टता का प्रबल अथवा अन्यतम हेतु थी।

(२) छायावादी काव्य में शुक्लजी की दूसरी महत्वपूर्ण शिकायत है कि उसमें भावनात्मक सचाई (Sincerity) की कमी या अभाव है। इस सम्बन्ध में उन्होंने काफी कड़ी बातें कही हैं, जैसे—'जगत्-रूपी व्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ भाव भूमि, कल्पना की झूठी कला-कलाप, भावों की नकली उछलकूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्द-प्रयोग—जो आधुनिक रहस्यवादियों में अभिव्यञ्जनावादियों (Expressionists) के प्रभाव से आई है—वैयर्थ्य और शैली की कविता का कारण नहीं है।' यह उद्धरण 'रहस्यवाद' का है। 'इतिहास' के उद्धरण में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं—'रहस्यवाद और अभिव्यञ्जन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने से भावानु-सृत कल्पित होने लगे।'।

(३) दूसरी शिकायत से ही सम्बद्ध शुक्लजी की यह आलोचना है छायावादी काव्य में हवाई कल्पना का अतिरेक है। इस कमी को उन्होंने 'कल्पना का कलापूर्ण और मनोरजन नृत्य', 'कल्पना की कला-कलाप' आदि नामों से अभिहित किया है। वस्तुतः छायावादी काव्य का अङ्ग जिस केन्द्रगत समस्या के समाधान या स्पष्टीकरण पर निर्भर है वह यह है—काव्य में नियोजित कल्पना का क्या स्वरूप, स्थान

घोर मर्यादा है ? रगज तथा पैनी दृष्टि के शुक्लजी को इसका आभास न हुआ हो ऐसा नहीं, बल्कि उन्होंने अनेक स्थलों में जिनकी तरह में इस समस्या पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है वह गहरे आश्चर्य और प्रशंसा का भाव जगाने वाला है। हिन्दी की उस अल्प विकसित अवस्था में—जब माननीय द्विवेदीजी जैसे लेखक मसहूर कवियों की मूर्तों की दाद दिया करते थे—एक नितान्त उच्चकोटि की रमणीय प्रतिभा ही ऐसे प्रश्नों में उत्पन्न होना उपजना बर गवनी थी। (इस दृष्टि में शुक्लजी का स्थान कालरिज जैसे देने-गिने साहित्य-मीमांसकों के साथ है।) खेद की बात है कि शुक्लजी की आलोचना के इस अंश पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, वह नहीं दिया गया और छायावाद के समर्थकों ने उगकी उपेक्षा की। शुक्लजी ने विद्या था—“मनमाने आरोप, जिनका विधान प्रकृति के सकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्म-स्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य का कौतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता में बहुत-सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामन आता है।” (इतिहास, पृ० ५१२-१३)। आश्चर्य की बात है कि छायावाद के किसी समर्थक ने शुक्लजी की इस नितान्त महत्वपूर्ण समीक्षा का उत्तर देने की कोशिश तक नहीं की।

(४) [शुक्लजी की आलोचना का चौथा पहलू यह है कि छायावादी काव्य प्रायः एक सकीर्ण घेरे में घूमता रहा; उनका नाना अर्थभूमियों में विस्तार नहीं हुआ। उन्होंने कुछ छायावादी कवियों के रहस्यवाद को साम्प्रदायिक अर्थान्तरिकादी भी कहा है। इसका मतलब यह है कि उस काव्य के सकेत उन्हीं को हृदयङ्गम और ग्राह्य होंगे जो विशेष दार्शनिक रुझानों को स्वीकार करते हैं। (सम्भवतः निराला जी की ‘गीतिका’ की रचनाएँ इसी कोटि की हैं)। रसानुभूति के लिए यह मानकर चलना बिन्दुन आवश्यक नहीं होता चाहिए कि अद्वैत अथवा कोई दूसरा वाद

एक ऊँचा और गंभीर-सीमा दर्शन है।] इसका मतलब यह हुआ कि छाया-
कारी काव्य व्यापक अर्थ में रहस्यवाद भी नहीं, मौखिक जीवन में तटस्थ
तो बन है ही। बावजूद इसके रहस्यवाद मौखिक अनुभूति में बाहर की
भाँव में ही रहने के लिए एक अनिवार्यता की भावना मोह-मरेदना का सुलभ
साधन है। और शायद रहस्यवादी काव्य के 'मायागन्धर्व' में बटिनाई होनी
है। तो उनका काव्यवादी काव्य अनुभूति की अभीष्टता न होकर उनकी
हानिमान और कालाचार्य भावित्व ही मानना चाहिये।

मुद्राजी की आलोचना के बाद उनके द्वारा लिखे गये अथवा बाँटे-
वाले कुछ गद्य-ग्रन्थों की दृष्टि। छायावादी युग प्रजातन्त्र के न्यूनाधिक
प्रसार एवं लोक-विचारों से उत्पन्न राष्ट्र-विकास का युग था, अतः उस
काव्य में प्रतीक-भावना और मरेदना पर दोष्य दृष्टि डालना अनिवार्य
था। काल-युग आन्तरिक दलील-व्यक्ति के लिए अधिक
उपयुक्त था। मुद्राजी ने युग की इस भाँव का आत्मनिष्ठता को देखने में
इनकार दिया और वे अन्य तरह की काव्य की अनादर की दृष्टि में
देखते रहे। अतएव ही इसका एक कारण साहित्यिक आत्मनिष्ठता के
शोषणों का अस्वीकार था—वे कहने लगे थे कि अब प्रत्यक्ष-रचना को
आभावना और आवश्यकता ही नहीं रह गई है, किन्तु भाव ही यह मानना
होगा कि शून्यता की सांस्कृतिक दृष्टि मरण अथवा गीमिन थी, वह
उनकी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि की गुणगान में कहीं कम प्रकटित थी।
देशदत्त गीत-काव्य का विषय कवि के अपने गंगागाय एवं प्रतिविम्बारे

काव्य की महत्ता एवं न-आंतरिक व्यक्तित्व की गतिविधियों
पर निर्भर करती है। अब साधारण व्यक्तित्व वाला कवि
अपनी गतिविधियों की दृष्टि नहीं कर सकता। महादेवीजी ने कही
कलाकार 'अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख
देखो भी मनुष्य के लिए यह समझना कि उसकी

प्रत्येक गीत महत्त्वपूर्ण है, अन्तः की पराकाष्ठा है, शायद स्वयं विद्याना के लिए भी ऐसा दावा अनिश्चयोक्ति प्रतीत होगा। हमके विपरीत साधारण व्यक्तित्व वाले कवि भी मानव जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाकर महनीय दृष्टि कर सकते हैं। अब यदि शुक्लजी दावा मात्र कहते कि प्रगीत काव्य की सम्भावनाएँ सीमित है तो वे धोखेबाज दावे में रहते। किन्तु हमके विपरीत उन्होंने यह कहना चाहा कि गीत-काव्य का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जो धामद था। विशेषतः रूस्य-वाद के क्षेत्र में जहाँ प्रेमस्यन्द अनन्त मोन्दसं एव रग का अधिष्ठान परिवर्तित होता है, गीत-काव्य की सम्भावनाएँ बहुत बड़ जाती हैं। अवश्य ही वहाँ यह शर्त रहती कि कवि की रूस्य-भावना वास्तविक एव जीवन्त हो।

यहाँ यह कहना भी अप्रागर्जिक न होगा कि शुक्लजी विशुद्ध गीत-काव्य जो आत्मनिष्ठ होता है और बहिर्निष्ठ प्रबन्धोत्तर काव्य में किसी रूपरेखा मुक्तक जैसी होती है, प्रायः भेद नहीं देख सके। उदाहरण के लिए रीतिकालीन काव्य प्रबन्धरूप न होने हुए भी आत्मनिष्ठ नहीं है, और उसकी आधुनिक गीतकाव्य से कोई समानता नहीं है। अमरक और बिहारी दोनों ही बर्तृसूचक, शोषी आदि की कविता के कवि नहीं हैं और न वे पल्ल अथवा खीन्द के ही समान-धर्मी हैं।

शुक्लजी की गान्धर्व दृष्टि की आवश्यकतक सीमितता एक दूसरी दिशा में भी दिखाई देती है—वे आधुनिक काव्यगत भावनाओं के ऐतिहासिक महत्त्व को विनशुक्त नहीं समझ सके। वे यह नहीं देख सके कि छायावाद, अपनी सब बलियों के बावजूद, आधुनिक मनोवृत्ति का प्रतीक था। मान्य परता है कि उन्हें हिंसे-युग की स्थल सौमन्य धर्म-भावना से विनशुक्त विरक्ति न थी, और वे यह समझने में तत्पन्न अवस्था में कि आज के सभ्यतायुग में अदृश्यतः क्या गान्धर्व दृष्टि काव्य के

सिए स्थान नहीं रह गया है। वास्तव में आज की सभ्यता और संस्कृति पूर्ण अर्थ में लौकिक है, उसका केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं। छायावादी काव्य ने शिक्षित लोगों को आकर्षित किया, इसका एक प्रधान कारण उसका लौकिक स्वर था। छायावादी रहस्यवाद वास्तव में लौकिक प्रेम-काव्य ही है। वह पाठकों से विशेष धार्मिक भावना या विश्वास की अपेक्षा नहीं करता, इसलिए वह शकाशील एवं अविश्वासी पाठकों के लिए भी अग्राह्य नहीं है। इसीलिए हमें महादेवीजी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ छायावाद का मण्डन और व्याख्या हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

‘इतिहास’ में वही-कही शुक्लजी ने छायावाद की प्रशंसा भी की तो उसकी साक्षणिक शैली को लेकर, यह भी उनकी सांस्कृतिक रुचि की परिमीमा और परम्परा-मग्नता का निदर्शन समझना चाहिए। अन्यत्र शुक्लजी ने स्वयं ही रवि देव के साथ ‘अभिधा’-मूलक काव्य की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

अन्त में हम बटे कि अपनी सब न्यूनताओं के होने हुए भी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से (अर्थात् उस दृष्टि में जो साहित्य में मुख्यतः रंग और शक्ति की खोज करती है) शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत तथा संचालित छायावाद की आलोचना अब तक की सर्वश्रेष्ठ आलोचना है, ठीक उसी प्रकार जैसा तरह कि अपनी सब कमियों के बावजूद छायावादी काव्य हमारी भाषा में आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। शुक्लजी की गमीशा का सांस्कृतिक पक्ष भले ही कमजोर हो, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से छायावाद का कोई भी दूसरा गमीशक, फिर चाहे वह उग्रवा गमधंध हो या विरोधी, उनका समकक्ष होने का दावा नहीं

नया साहित्यिक दृष्टिकोण

[डॉ० हजारीप्रसार द्विवेदी]

इस युग में ज्यो-ज्यो भिन्न-भिन्न समुदायों की चिन्ताएँ एक-दूसरे के निकट आती गई हैं, ज्यो-ज्यो प्राचीन रुढ़ियों में उनका छुटकारा होना गया है। जिस प्रकार अन्यान्य शास्त्रों में, उसी प्रकार कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में भी, एक मार्वांभूमि भित्ति पर सारे ससार के मनीषियों का ध्यान केन्द्रित होता रहा है। नये वैज्ञानिक आविष्कार इसमें बहुत अधिक सहायक हुए हैं। एकदेशी कल्पनाएँ और उनकी पोषक परम्पराएँ टूट गई हैं, जहाँ नहीं टूटी हैं, वहाँ टूटने की ओर बढ़ रही हैं। काव्य को समझने का भौगोलिक दृष्टिकोण जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरॉपियन पण्डितों में एक बार अत्यधिक प्राधान्य लाभ कर गया था, आज बुरी तरह गलत धाबिन हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष के सच प्रबुद्ध समालोचक अब भी इस व्याख्या का स्वप्न देखने रहते हैं—विशेषकर धार्मिक क्षेत्रों में—तथापि वह अपनी गतिशीलता खो चुकी है। इस दृष्टि से हमारे के इतिहास को देखने वालों ने मनुष्य के काव्य-नाटकादि मनुष्य कलाओं में लेकर आचार-विचार-आहार-निद्रा आदि क्रियाओं तक को देश-विशेष की भौगोलिक परिस्थिति की उपज बताया था। भारतवर्ष-जैसे उष्ण कटिबंध देश में रहने वाले आदमी स्वभावतः ही आलसी, के बल कल्पना-शील, शामचोर और परलोभ-प्रवरण होंगे; पर माइबेरिया में रहने वाले का जीवन प्रवृत्ति में लड़ाई करने में बीतेगा। उमरे सामने वास्तविकताएँ इतना बठोर रूप लेकर उपस्थित होंगी कि वह कल्पना-निहार का अवकाश ही नहीं पा सकेगा। उसका साहित्य भी वैसा ही होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि भौगोलिक कारण, जाति को विशेष रूप देने में बहुत-

कुछ कारण बन जाते हैं, पर यही सब-कुछ नहीं है। भाग्यवश में हम दृष्टि में देखने का सर्वाधिक रिक्त रूप साम्प्रदायिक सम्भावना के उद्देशकों के मुख में गुनाई देता है। जब वे भारतवर्ष की मनी-माधियों में, यहाँ की धर्मप्राण जनता में यहाँ के धर्म पर कुर्बान होने वाले धर्मवीरों में कुछ ऐसी विशेषता बनाया करते हैं, जो यही है और यही हो ही नहीं सकती। हम दृष्टिकान में जिनमें भी दुनिया देखी है, उन्होंने मनुष्य की अपेक्षा उमरी स्त्रिया की अधिक देखा है। अब जबकि रुढ़ियाँ टूटने लगी हैं, भारत की मनी-माधियों में कोई ऐसी विशेषता नहीं दीखती जो यूरोप की मनी-माधियों में न हो। यहाँ की धर्मप्राण जनता कभी भी ऐसी हड़ताल नहीं करती, जो रूस या इंग्लैण्ड के वारखानों में काम करने वाली जनता ने न की हो।

रीनिसांस की रुढ़ियाँ जब बीसवीं शताब्दी के कवियों के अज्ञान, अपेक्षा और विरोध के कारण टूट गईं, तो हिन्दी में भी अँगरेजी के 'रोमांटिक' कवियों का स्वर सुनाई देने लगा। अमहयोग आन्दोलन के बाद यह उत्तरोत्तर साफ होना गया। इन कवियों ने बाह्य जगत् को अपने अन्तर के योग में उपलब्ध किया; अपनी रचि, कल्पना और मुख-दुःख में गूँथकर ससार को देखा। हिन्दी-कविता में सैकड़ों वर्षों में जिस वैयक्तिकता (Individuality) का प्रवेश नहीं हुआ था—जो भौगोलिक व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषी की विशेषता होनी चाहिये थी—वह एक ही धक्के में दरवाजा तोड़कर सामने आ खड़ी हुई। पिछले पन्द्रह वर्षों में भारतीय कवि की वैयक्तिकता ही प्रधान प्रतिपाद्य काव्य-सामग्री रही है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि उसके भी दिन गिने जा चुके हैं। अब तक कवि चाहे कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो, या चिन्ता द्वारा किसी अज्ञान रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वामनान्तर्बिलीन (उत्तेजित कर

रहा हो—सबसे उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठनी रही है। अतः आधुनिक कवि इस भावुकता को पसन्द नहीं करता। यह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव में देखने को ही सच्चा देखना मानना है। यह बात उसके निवृत्त मध्य नहीं है कि वस्तु को उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मायता में नहीं। और जैसा कि हम विषय के परिचितों ने बताया है विश्व का व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर तद्गत और अनासक्त भाव में देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण में जगत् को देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस दृष्टि का अधिक विनियोग आर्थिक परिस्थिति को समझने में किया गया है, या यों भी कहा जा सकता है कि समाज की वर्तमान परिस्थिति को आर्थिक-दृष्टिकोण में देखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि यही उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारी विचारधारा की वास्तविक नवीनता इस बात में नहीं है कि हमने समाज को व्यक्तिगत रूचि-अरुचि की दृष्टि में देखा है या आर्थिक दृष्टि से—वस्तुतः व्यक्तिगत दृष्टि और आर्थिक दृष्टि का विरोध नहीं भी हो सकता है—बल्कि यह कि हमने समाज को अपने मत्-अमत् के मस्कारों की दृष्टि में नहीं, बल्कि इन मस्कारों में मुक्त बुद्धि के द्वारा देखने का प्रयास किया है। दोनों का अन्तर दोनों दृष्टिकोणों के विकास से समझा जा सकता है।

यह मानने में कोई सकोच नहीं होना चाहिये कि हमारी आधुनिक दृष्टि-भंगी यूरोपियन मसगं का फल है। हमने पहले हमारी दुनिया एक प्रकार से तय हो चुकी दी। हमारी मत्-अमत् सम्बन्धी धारणाएँ हमेशा के लिए मानो स्थिर हो चुकी थीं। यूरोप में भी ऐसा ही एक युग था। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों ने वहाँ के सोचने वाले आदिमियों के मस्तिष्क में एक प्रकार की अज्ञानता ला दी। किसी ने कहा है कि ग्योतिष का यह आविष्कार कि पृथ्वी समस्त ग्रह-नक्षत्र-मण्डल के केन्द्र में नहीं है

उपेक्षित रहा वह नदी में प्रधान स्थान प्राप्त करता गया। व्यक्ति को समझने के लिए भी उसके चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन की प्रधानता स्थापित हो गई। आदर्शवाद की इन दोनों बातों में खोट पहुँची। फॉयर ने कहा कि मनुष्य वस्तुतः वैसा नहीं है जैसा कि वह स्पष्ट ही दीख रहा है, प्रत्युन् वह वैसा है जैसा कि अपने का चेष्टानुबंध नहीं दिखाता चाह रहा। चेतन के द्वारा नहीं, अवचेतन के द्वारा मनुष्य का पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त बाह्य, समस्त ज्ञान, समस्त धर्माचरण एक नये रूप में प्रकट हुए। हम अपने को जैसा समझ रहे हैं, वैसा नहीं है, हम दुनिया को जैसा देख रहे हैं, वस्तुतः वह वैसी नहीं है। फिर समाज के जितने सदाचार हैं, जितने कानून हैं, जो कुछ नैतिकता-विधान हैं, सब वस्तुतः वैसा नहीं है। मार्क्स ने कहा कि इन विधानों का कारण कोई वास्तव सत्य नहीं है बल्कि आर्थिक परिस्थिति है। दोनों दृष्टियों से आपानत साधु दृश्यमान आदर्शवाद घोषा ही दीखने लगा। इस प्रकार मानवीय चिन्ता दूसरी बार अपने सस्कारों को झाड़कर देखने का प्रयास करने लगी। काव्य की, समाज की, धर्म की, राजनीति की—सबको उसने तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयास किया। पहली चिन्ता में व्यक्ति प्रधान था, इसमें वह गौण हो गया। पहली में द्रष्टा प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृश्य द्रष्टा के मन से विमुक्त होकर सामने आता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे छिप जाता है। यही नया दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से जैसा कि एक रूसी आलोचक ने हाल ही में कहा है, अब तक कलाकार की वैयक्तिकता के प्रकाशन में, रीति-ग्रन्थों में, निजी कल्पनाओं में और स्टाहीन (abstract) चिन्ताओं में कला का बीजपन ही प्रकट हुआ है। और जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा था, दो कारणों से इस कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्तन हुआ है। एक तो विषय को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है, तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता।

यूरोपियन मस्तिष्क के ऊपर सबसे पहली और सबसे जोरदार चोट थी। उसकी ममस्न धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना, सारा पौराणिक विश्वास, समस्त रुढ़ियाँ इस चोट में तिलमिला गईं। विज्ञान प्रगति होता गया, धर्म-विश्वास सङ्कुचित। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार अठारहवीं शताब्दी में ईश्वर और धर्म को पीछे धकेलता गया, अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी में ये दोनों वस्तुएँ—‘कहिये तो भिन्न-न-भिन्न’—सम्पूर्णतया पृष्ठ-भूमि में आ गईं। पर मनुष्य अपने-आप पर अत्यधिक विश्वास-परायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता-प्रधान युग है, उसी प्रकार आत्म-विश्वास-परायण भी। इस काल में सारे ससार में आदर्श-वादियों का प्राधान्य था। आज भी जहाँ कहीं बड़े-बड़े आदर्शवादी दीख रहे हैं, वे उसी शताब्दी के भग्नावशेष हैं। इन आदर्शवादियों ने ससार की वास्तविकता की तरफ नहीं ध्यान दिया, बल्कि अपना सारा ध्यान एक आदर्श दुनिया को गढ़ने में केन्द्रित रखा। जहाँ मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ का शिकार न होकर सेवा का विधाता होगा, जहाँ धर्म मनुष्य का मार्ग-दर्शक न होकर मनुष्य द्वारा परिचालित होगा; जहाँ का सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। इस आदर्श के उन्नयन के साथ-ही-साथ आत्म-सापेक्ष दृष्टि अपने-आप अनजान में ही, प्राधान्य लाभ करती गई। अपनी भावनाओं के रंग में दुनिया को रंगकर देखने का अभ्यास बढ़ता गया। हिन्दी का वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य उसी का अन्तिम प्ररोह था। पहले वह समाज-सुधार के क्षेत्र में दिखाई दिया और बाद में उसने अन्याय क्षेत्रों को भी बुरी तरह से आच्छादित कर लिया। न जाने किस अमूलदर्शी ने कविता में उसका नाम छायावाद चला दिया। परन्तु विचार की दुनिया में एक बार जो अगान्ति घुस गई थी वह फिर भी अशान्ति बनी रही। वैज्ञानिक अग्रगति ने बेचैनी बढ़ाने का ही कार्य किया। जीवन को देखने के दृष्टिकोण में फिर जबरदस्त परिवर्तन हुआ। मार्क्स और फ्रायड ने समाज और व्यक्ति को देखने का नया चश्मा दिया। समाज का जो भ्रम सर्वाधिक

[illegible]

ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक-जैसी गद्यमय भाषा लिखता है। दूसरे विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिए वह जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करता है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायें। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वस्तुतियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं, अद्भुत भी जँचें। ऐसे काव्य में मेट्रिक और कुकुरमुत्ते केवल इसलिए व्यवहृत हो सकते हैं कि पाठक के चित्त को जोर से झकझोर दें, यद्यपि उसका अन्तर्निहित तत्त्व यह भी हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य हैं उतने ही सत्य मेट्रिक और कुकुरमुत्ते भी हैं। जब तक द्रष्टा अपनी रूचि-अरुचि से साज कर दृष्टि को देखेगा तब तक वह इस महत्ता का अनुभव नहीं कर सकेगा।

परन्तु इस दृष्टिकोण का बहुत ही व्यापक प्रभाव स्वयं दृश्य या द्रष्टव्य पर पड़ा है। अब तक काव्य, साहित्य, नृत्य आदि ललित और धनात्मक कलाएँ अपने-आप में अध्येतव्य थीं। अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के साधन से हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते थे। अब समझा जाने लगा है कि वस्तुतः ये स्वयं अध्येतव्य विषय नहीं हैं, ये साध्य भी नहीं हैं, ये साधन हैं। इनके द्वारा हम किसी और को समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान और भूगर्भ-विद्या की भाँति ये भी अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हैं। फिर वह साध्य वस्तु क्या है, जिसकी साधना के लिए काव्य, नाटक और नृत्य-चित्र-मूर्ति-कलाएँ साधन हैं? वह जीवन है। [जीवन को समझने के लिए ही यह सारा टंटा है। जीवन जिसकी उद्दाम सहरें नाना स्तरों में प्रवाहित होकर किसी अज्ञात दिशा की ओर भागी जा रही है। 'अपारे काव्य-ससारे' का प्रजापति कवि उन सँकड़ों स्तरों में से एक स्तर है, जिसके रूप में जीवन-महासमुद्र की तरंगें प्रकट हो रही हैं। उससे हम समुद्र की उम्भीरता और उसके विस्तार की खोज पा सकते हैं, वह स्वयं ज्ञातव्य, गाम्भीर्य या विस्तार नहीं है। विश्व उस प्रकार गठित नहीं हो रहा है, जैसा कवि को रुचता है बल्कि विश्व को जैसा रुचता है वह वैसा ही उसके प्रतिफलित हो रहा है।

नयी कविता : नया सन्तुलन

[जगदीश गुप्त]

‘लोग बहुतों बड़े ही विलक्षण छोटे या बृहत् की भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे, कोई ग्यारह पदे। कोई नव पदे। किसी की चार सतरे गज-गज भर लम्बी ला दो सतरे दो ही पदों की। फिर ये लोग बेलुकी पचावली भी लिखते की बहुतों बुरा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखप्रथा हो जाती है। न उ शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली व अनुबन्धी, न ये सगुणालोचकों के परामर्शों की परवा करने वाले। इनका मूलमन्त्र है—हम खुना दोगर नरन। इस हमाइती को दूर करने का क्या इरादा हो सकता है, कुछ समझ में नहीं आता।’

(‘यह परिवर्तन और जर्जलि का युग है। सब विषयों में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं, कविता में जर्जलि हो रही है और बड़े वेद में हो रही है। हिन्दी कविता का तो एकदम काया-वत्य हो रहा है, दूसरी भाषाओं की कविताओं में भी परिवर्तन हुआ है, पर हिन्दी में परिवर्तन का इस कुछ निराशा ही है। मैं परिवर्तन का विरोधी नहीं हूँ पर परिवर्तन में ब-लमत्त कर बनता चाहिए, मतमाने प्रभाव में नहीं। मेरे इस विरोध का ये तात्पर्य है—हिन्दी की नवीन कविता में अन्तः अन्त ही में कभी कुछ नया है—अपरिवर्तित है। यह कुछ बड़ रहे हैं यह तो बहुत पुराना है, पर नया बड़ रहे हैं यह समझ में नहीं आता।

उत्पन्न होनी उदाहरणों में से एकका अर्थार्थ अन्तर्गत अन्तर्गत विवेक के ‘आश्चर्य की कविता’ अन्तर्गत विवेक में उत्पन्न है और दूसरा अन्तर्गत पदार्थार्थ अर्थों के एक अन्तर्गत का एक अर्थ है का उत्पन्न अर्थ, १९२८ में

मुजफ्फरपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सम्मति पर में दिया
 गया। यह उग समय की प्रतिष्ठा का व्यक्त करने है जब छायावाद के
 रूप में हिन्दी कविता प्राचीन कवियों एवं माध्याम्यों में विद्रोह करने
 हुई एक नया मांड में खड़ी थी। कविता आज फिर नयी दिशा में मुड़ रही
 है। प्रतिष्ठा पुन प्रारम्भ हो गयी है। टीक उगी गरह, सगमग उन्हीं
 शब्दों में, वैसे ही तारी का आधार मंदर, विष्णु अश्वि योम, अश्वि
 आश्रम के साथ। दोनों स्थितियों की तुलना करने पर मालूम है जैसे
 इतिहास का चक्र गतावली के चतुर्थांग में ही वृत्त को पूरा करना हुआ
 अपनी धुरी पर तीव्रता में घूम गया हो। बटु आरोहों और अनगन आनो-
 चनाओं के विरुद्ध उग समय का विद्रोह नाशीन नहीं हुआ, आज भी नहीं
 होगा। नयी कविता का भविष्य, यदि यह वास्तव में नयी है और कविता
 है, तो हर युग में उग्रवत रहा है, आगे भी रहेगा। मेरी इस मध्य पर
अग्नि आग्या है *अग्नि आग्या है*

[मैं कविता की मानवीय धेनू की अपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम
रूप मानता हूँ। उगे मनुष्य मात्र की मानुभाषा कहा गया है। जीवन के
गहन से गहन पहलुओं तक उसकी ध्यानि है। इसीलिए जीवन की अनस
गहराइयों में होने वाले परिवर्तनों की छाया साहित्य में सबसे पहले कविता
पर ही पड़ती है। युग-मानस के सूक्ष्मतम आवर्तनों-विवर्तनों का परिचय
शब्दों, अर्थों, भावों और विचारों के नये सतुलन से मिलता है। कविता
ऐसे प्रत्येक सतुलन के साथ नयी होती रही है। आज जो सतुलन घटित
हो रहा है वह अब तक होने वाले सतुलनों की अपेक्षा अधिक तलस्पर्शी,
अधिक मौलिक है क्योंकि मानव-व्यक्तित्व को इतना अधिक महत्त्व किसी
युग में नहीं मिला और न उसके आगे मानवता के सामूहिक निर्माण और
विनाश का प्रश्न ही इससे अधिक उग्र होकर आया। किसी बाह्य शक्ति के
स्थान पर अपना भाग्यविधाता वह स्वयं है और उसके निर्णयों के साथ
समस्त मानवता का भविष्य जुड़ा हुआ है, इस बोध ने उसे नया व्यक्तित्व

प्रदान किया है और मन के सूक्ष्म स्तरों तक ले जाकर कदाचित् इसी बोध ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दूरी को भी बढ़ा दिया है। व्यक्ति की इस महत्ता के साथ-साथ एक व्यापक सामाजिक दायित्व का उदय इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता कही जा सकती है। व्यक्तित्व का घेरा इतना अधिक फैल गया है कि सम्पूर्ण मानवता के क्षय और जय की समस्या उसके अपने जीवन और मरण की समस्या बन गयी है फलतः आज के नये साहित्य का यह विचित्र विरोधाभास है कि वह अनुभूति में व्यक्ति-निष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिक होता जा रहा है। सामाजिकता जब कृत्रिम रूप से कवि के व्यक्तित्व पर आरोपित की जाती है तो मायकाय्स्की की तरह वह आत्महत्या कर लेता है। नयी दिशा में चलने वाला आज का एक तरंग कवि भी कुछ ऐसा ही सोचता है—'बिक जाने के प्रथम चरण की गोंद बहेंगा।' अब कवि न राजाधन्य प्राप्ति के लिए 'आखर' जोड़ता है और न किसी धार्मिक सम्प्रदाय के आगे आत्मसमर्पण करके ईश्वर, गुरु या देवता की कृपा अर्जित करने के लिए 'पद' रचता है। राजनीतिक मतवादों के पारस्परिक संघर्ष की छाया उमकें मानस पर अवश्य पड़ती है किन्तु आज वाक्य-प्रेरणा का मूल स्रोत उमकी अपनी चेतना है, जिसका समर्पण यदि होता है तो जीवन के महज सत्य के आगे ही होता है। कविता इसीलिए रुढ़ि-ग्रस्त न होकर व्यक्तिगत हो गयी है किन्तु जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, कवि का व्यक्तित्व स्वयं विस्तृत एवं समाजोन्मुख होता जा रहा है अतः कविता में भी वैसे ही सस्वार व्यक्त हो रहे हैं। परिवर्तित स्थिति और मानव व्यक्तित्व के महत्त्व को आज का जागरूक कवि अपने भीतर बराबर अनुभव करता है। स्टोपेन स्पेन्डर की कविता 'दायल आफ ए जर्ज' में उच्चतर नैतिकता का आग्रह, पेंड की नग्न 'मुझमें पहने सो मोहब्बत मेरे महबूब न माँग' में अनिरीक्त दायित्व के प्रति सजगता और अजेय की कविता 'आज तुम शब्द न दो न दो' में दृढ़ संकल्प शक्ति मिलती

है। इन और इन जैसी अन्य अनेक कविताओं में देश-विदेश में सर्वत्र काव्य के बदलने हुए स्वर को पहचाना जा सकता है। शायद ही किसी युग में कवि इतना चिन्ताग्रस्त रहा हो। जीवन के गोमन-अशोमन, शिस-अगिष्य सभी पक्षों तक उसकी दृष्टि जाती है इसीलिए आज कविता उसके लिए मात्र आनन्द की वस्तु न होकर और भी कुछ है। नयी कविता में शोभ, ध्वंग्य और कर्कशता को देखकर कुछ काव्य रमिक उदाम हो जाते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि जब जीवन के भग हों; के कारण काव्य में जुगुप्सा, शोक, क्रोध और भय आदि विकर्षणात्मक भाव भी ग्राह्य हो सकते हैं और उसकी सृष्टि कर सकते हैं तो शोभ आदि को ही क्यों अप्राह्य माना जाय। मराठी के कुछ रम-विवेचको ने 'प्रशोभ रस' की कल्पना की भी है। वस्तुतः इस तरह से सोचने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है जो प्रायः कम मिलता है।

चेतना की परिधि के विस्तार तथा कवि-व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातन्त्र्य का परिणाम काव्य के रूप में करना अनिवार्य है और उचित भी क्योंकि रूप-विधान सदा युग विशेष की मन स्थिति को प्रतिबिम्बित करता आया है। वैदिक साहित्य के छंद सस्कृत के महाकाव्यकालीन छंदों की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त और अधिक ऋजु प्रकृति के थे। सामंती सत्कारो और स्मृतियों की व्यवस्था से भग-भग पर नियोजित परवर्ती समाज के छंद, गण-विधान से युक्त अतिव्यवस्थित वृक्षों के रूप में सम्मुख आये। सस्कृत वृक्षों में जो तुकान्त का अभाव मिलता है वह आज की सी स्वतंत्रता की मनोवृत्ति का परिणाम नहीं था क्योंकि जहाँ अक्षर-अक्षर का गुरुता-लघुता मूलक क्रम तक निर्धारित हो वहाँ तुक का होना न होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका यही तात्पर्य हो सकता है कि उस युग में जीवन किसी एक छोर पर न बँध कर सम्पूर्ण रूप में बँधा हुआ था। प्राकृत अपभ्रंश साहित्य में लोकव्यापी जीवन की तरलता से जिन छंदों की सृष्टि हुई उनमें सगीतात्मक

एवं समस्त मानव की प्रवृत्ति में व्यक्त होनेवाले विभिन्न परिस्थितियाँ हैं।
 दुर्गादिता उनमें कुछ का विधान है। अन्य सभी में वे मात्र जीवन की
 प्रकृतियों का मात्र अभिव्यक्ति प्रदान करने हैं। आधुनिक युग में
 कुछ परिवर्तनों के साथ मुख्यतः यही मानव-भाव का विधान करना
 रहा। अब नवीन परिस्थितियों का आधाय में वह लंबा रहने लगा है।
 परम्परागत अनुभव तथा कृत्रिम माध्यम में नवीन अनुभूतियों का अधिक
 समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता। दुर्गादिता कविता में विभिन्न
 प्रकार के जटिल बन्धन प्रमाण दूर हो जा रहे हैं। आधुनिक रूप में
 जब बहिर्भाव स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है तो बाह्य इन
 कृत्रिम बन्धनों को यह आवश्यकता से अधिक प्रथम नहीं देखता।
 पतञ्जली ने एक युग-दृष्टि की तरह छायावाद-काल में ही 'युगवाणी' के
 'अपारा' रहने की घोषणा कर दी थी, तब जबकि 'छंद के बंध' और 'प्रास
 के रजतपाश' पूरी तरह खुल भी नहीं पाये थे। आज खुलने के स्थान
 पर वे धर्मराज के टट रहे हैं। छोटी की नयी-तुली एकरवर्ता (मोनोटोनी)
 के विपरीत विविधता और विधमता, यहाँ तक कि विभ्रूलता भी आने
 लगी है। सगीतात्मकता और नैयता के प्रति भी एक प्रकार की प्रतिक्रिया
प्रारम्भ हो गयी है, यद्यपि 'तार मजबूत' का रूपक संगीत के क्षेत्र से ही
 लिया गया है। यह स्थिति विश्वव्यापी है इसीलिए इसे युग के मानसिक
 परिवर्तन में ही सम्बद्ध करना होगा। नयी कविता का रूप-विधान भी
 नयी मन स्थिति के अनुरूप नया सतुलन खोजना हुआ विकसित हो रहा
 है। जिस प्रकार आज के जीवन में अनावश्यक बंधन एवं विधिनिषेधों
 के प्रति अस्वीकार दिग्दर्श देनी है उसी प्रकार छंद-विधान में भी स्वतन्त्रता
 का अप्रारम्भ अधिकाधिक व्यक्त हो रहा है। कव्य की शक्तिमत्ता और महत्ता
के साथ कथन की पचासप्रतिशत अकृत्रिमता हम पूरे युग की कविता की एक
विशेषता बनी जा सकती है। कृत्रिमता से मुक्ति पाने की वृत्ति ने ही
 कदाचित् नयी कविता को कुछ अंशों में गद्य के समीप ला दिया है किन्तु

इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि-कर्म सरल हो गया है। वस्तुतः अकृत्रिम रूप-विधान अधिक कलात्मक दायित्व की अपेक्षा रखता है क्योंकि उममें मुख्य भाव वस्तु की कमजोरी को आच्छादित करने के उपकरण कम से कम होते हैं। कदाचित् इसीलिए कहा गया है 'गद्य कवीनां निर्वर्ष वदन्ति।' (नयी कविता के प्रसंग में संस्कृत का उद्धरण देखकर भड़बने वाले कृपया क्षमा करें)। यहाँ यह भ्रान्ति किसी को नहीं होनी चाहिए कि नये कवि, कविता से पद्य का बहिष्कार करके उसे गद्य बनाना चाहते हैं। वास्तव में कविता गद्य और पद्य दोनों से ऊपर है। जिस तरह गद्य और कविता में अन्तर है उसी प्रकार पद्य और कविता में भी भेद है। पद्य में निष्ठा हुआ सभी कुछ कविता नहीं हो जाता। बी० बी० सी० से प्रचारित और एनकाउटर में प्रवाशित एक परिमवाद में जेम्स स्टीफेन्स और विलियम टामस जैमे पश्चात्य कवियों ने भी इस तथ्य की ओर संकेत दिया है। यदि कहा जाय कि पद्य कविता की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी रुढ़ि है तो अत्युक्ति न होगी। निरालाजी ने इसे झकझोर दिया था। नयी कविता इसे तोड़ कर आगे बढ़ रही है इसीलिए इतना हाहाकार मच रहा है। वह पुरातन राजगी जडाऊ रूप मन्त्र को छोड़कर अब गहन ध्वनि में प्रकट हो रही है। पद्य की आवश्यकताएँ और मर्यादाएँ भावों के अनुष्ण ही हों, यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक कवि इस सत्य में परिचित है कि जहाँ छंद-प्रवाह तन्मयता उत्पन्न करके भावों को संवारता है, अप्रत्याशित उपलब्धियाँ कराना है वहाँ बहुत से शब्द छंद-निर्वाह, पाद-गूँथ और तुल्यता के लिए भी माने पड़ते हैं। छंद में बाधों-बाधों भाव का रूप कुछ-बहुत हो जाता है। पद्य-रचना एक कोशिल है जिसका प्रयोग मध्ययुगीन कवियों के लिए मोरख की बात थी किन्तु आज यह कोई इतनी बड़ी बाधा नहीं रही कि उसके लिए मूल कथ्य को रिक्त हो जाने दिया जाय। नया कवि पद्य, छंद और तुल्यता को बहिष्कार करने में प्रवृत्त न करके आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग करना चाहता है। उसका

आपह अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्तिगत ईमानदारी पर अधिक है।
 इसीलिए वह ऐसे माध्य रूप को अपनाता है जो उसके कथन की प्रवृत्ति
 के अनुरूप हो अथवा जिसके मन की सगति स्थापित हो, वास्तविक सौंदर्य
 भी बाह्य सगति में न रह कर आन्तरिक सगति में ही निहित रहना है।
 कविता के लिए मैं लय को अनिवार्य मानता हूँ। लय से ही सगीना-
 त्वबता उत्पन्न होती है और छंद की भी सृष्टि होती है। किन्तु लय शब्द
 की ही नहीं, अर्थ की भी हो सकती है। आज जब कविता इस अर्थ की
 लय को पकड़ कर चली है तो छंद का स्थूल रूप पीछे छूट जाना है। जो
 उसके सयात्मक अर्थ नस्त्व पर ध्यान नहीं देने उन्हें वह गद्य ज्ञान
 पड़ता है। आज यदि कवि नयी अभिव्यक्ति-शक्ति लाने के लिए नये
 रूपों की धीरे धीरे रहा है तो यह आरोप करना कि पद्य-रचना करने में
 वह अक्षम है, उसके प्रति अन्याय करना है; क्योंकि वह उम मार्ग पर
 चलने के बाद ही नयी दिशा की धीरे मुड़ा है। उसका सारा त्याग विनी
 उपलब्धि के लिए है, यदि वह उपलब्धि नहीं होती तो निश्चय ही उसके
 प्रयत्न को (प्रयोग को नहीं क्योंकि उसकी तो ग्यति ही अब तक नहीं
 आती) निरर्थक माना जावेगा। साहित्य-मूजन के विशाल क्षेत्र में नयी
 सम्भावनाओं को लाने में थोड़े से प्रयत्नों का निरर्थक जाना कोई बड़ी
 बात नहीं है, किन्तु इसमें यह कभी मिट नहीं होना कि नयी दिशा में
 जाने का प्रयत्न ही पाप है।

नयी कविता के प्रति मेरा दृष्टिकोण अतिशय धीरे धीरे का नहीं
 है। मैं उसमें उन तत्त्वों को पाता हूँ जिनके द्वारा अर्थ और भाव की
विशेष शक्ति मिलती है। श्री अरविन्द के इस विचार में कि भावी कविता
 की प्रवृत्ति कृपा-प्रवृत्ति होगी, बहुत कुछ सार प्रतीत होता है। नयी
 कविता बालों के पद को प्रयत्न करती हुई उसी धीरे प्रयत्न कर रही
 है, ऐसा मुझे लग रहा है।

नया कवि छंद को सेव करने की अनेक दृष्टियों को देखेगा

वरन, उगरे रूप का उभागने धीरे भनभन में मृग शब्दों की गगन बनाने का विशेष प्रयत्न करता है। माधुर्य कोमल शब्दों की मीठाखा न करने का भाव, मध्य एव विचार मूल की तीव्रता में पकड़े रहने और उगे तीव्रतर बनाने की धार प्रयुक्त होता है। उदासीकरण के स्थान पर यह भावों में ^{मिष्ट}मीठा धीरे मीठा गान की श्रुति करता है। उगरे रूप में दृगीति मीठागान प्रायः अधिक मिलता है। नयी कविता में यौद्धिगता के साथ पर मैं अन्यथा (आलोचना धरु गाथा) विचार कर चुका है जिसे यही दोहराने की आवश्यकता नहीं।

कविता के समानान्तर साहित्य धीरे कला के अन्य रूप भी बढ़ रहे हैं, विशेष रूप से मूर्तित्व धीरे चित्रकला के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए हैं धीरे हो रहे हैं उन्हें देखकर नयी कविता के मर्म को धीरे भी अधिक सूक्ष्मता से समझा जा सकता है।

पद्मसिंह शर्मा के जिस भाषण का धन प्रारम्भ में उद्धृत किया गया है उसी में उन्होंने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी और वह यह कि "छायावाद के नाम से हिन्दी में जितनी कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें यदि एक भी अच्छी कविता है तो उमी एक कविता में हमें छायावाद की परीक्षा करनी चाहिए।" मैं पाठकों के आगे यही प्रस्ताव नयी कविता के सम्बन्ध में करता हूँ। जो अशक्त है उगरी चिन्ता करना व्यर्थ है, वह तो वैसे ही नहीं जायेगा किन्तु जो इतना शक्ति-भम्पन है कि युगों पुरानी रुढ़ियों को तोड़ डाले, उसको बिना सोचे-समझे उपेक्षित अथवा लाञ्छित करना, न केवल अन्याय है वरन् अपराध भी है।

नयी कविता का सामाजिक परिवेश

[डॉ० रघुवंश]

नयी कविता के सम्बन्ध में प्रचलित पूर्वाग्रहों के बीच समीक्षा का दायित्व अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। पक्ष-विरक्ष में विभाजित पूर्वाग्रहों से न केवल समीक्षात्मक दृष्टि धुंधली हुई है, बरन् बानाबग्न में तनाव भी पैदा हुआ है। ऐसी स्थिति में समीक्षा का सन्तुलित आधार पा जाना बहुत सरल नहीं है। पर जिस क्षण मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि आज की कविता के सम्बन्ध में पक्ष-विरक्ष ग्रहण नहीं करता, पूर्वाग्रहों को स्वीकार नहीं करता, उसी क्षण यह सारा कुहामा अपने आप कट जाता है। लेकिन प्रारम्भ में ही मैं यह कह देना चाहूँगा कि प्रत्यक्ष युग में जो कुछ कविता के नाम पर लिखा गया है वह कविता नहीं मिट हो सका, और आज 'नयी कविता के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है या छन रहा है, आगे नयी' विशेषण मिट जाने पर उसमें में पता नहीं किनना कविता मिट हो सकेगा, यह भविष्य ही जाने।

सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न जो नयी कविता के विषय में लगाया जाता है वह है उसकी असामाजिकता। कहा जाता है कि नयी कविता व्यक्ति-प्रधान है। उनका कहना है कि यह कविता अतिव्यक्तिगत तथा असामाजिक है। इस धारणा के मूल में यह भावना किमी-न-किमी रूप में निहित है कि आज की यह कविता यूरोप में पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ होकर द्वितीय महायुद्ध तक चलने वाले विभिन्न बादों में प्रभाव ग्रहण करती है। प्रश्न के इस पक्ष पर मैंने 'हिन्दी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ' की भूमिका में विस्तार से विचार किया है। वस्तुतः नये कवियों में इस बोझ का अनाजिक व्यक्तिवादी नहीं है जिस बोझ के

कवि और समाज के दृष्टि में विभिन्न बातों के प्रत्यक्ष दृष्ट है। कुछ आलोचक युग की गिच्छी परिस्थिति में हमारे देश की भाव की परिस्थिति की समझना प्रयत्न करने की कोशिश करते हैं, पर जो समझना परिस्थिति होती है या सामाजिक में अधिक सामान्य-मात्र है। हमारे देश का ऐतिहासिक वन विभिन्न परिस्थितियों के बीच में अलग हुआ है, और हमारे सामाजिक व्यवस्थाएँ भी अनेक दृष्टियों में भिन्न रही हैं। इस - सामाजिक युग की गिच्छी समझ भाव-धाराओं की बाद में पहुँची है। इस कारण इनका प्रभाव कम हो चुका है।

परन्तु यह भी सत्य है कि हमारे देश के जीवन में एक बहुत बड़ा मोड़ इस नये युग में उपस्थित हुआ है। प्रत्येक मोड़ सचानि युग होता है, जिसमें पुराने और नये के बीच मध्यम अनिवार्य हो उठता है। यह मध्यम विषयगत सगता है, पर इसमें बीच में गुजर कर पुराना नये का निर्माण करता है। पुरानी आस्था, पुरानी मर्यादा और पुराना विश्वास नयी आस्था, नयी मर्यादा और नये विश्वास को जन्म देता है। पहले युग का सांस्कृतिक जीवन विच्छिन्न होकर नये युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों की भूमिका तैयार करता है। क्योंकि इतिहास साक्षी है कि सगर की प्रत्येक सत्कृति अपने धर्म उत्कर्ष के बाद पतनान्मुख होकर विच्छिन्न हो गई है और अतीत की सत्कृति, कला, साहित्य तथा दार्शनिक चिन्तन आगत युग को विरासत में दे जाती है।

इस युग के नवागत विचारों तथा बदलते हुए आदर्शों की पीठिका पर इस काव्य में वस्तु-सत्य अथवा शैली को लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ यूरोप तथा इंग्लैंड के पिछले काव्य की मित जायें तो आश्चर्य नहीं। इस में विचारों का तीव्र आघात और सघर्ष, भावों का सज्जलित उत्प्लाव, उपचेतन मन के नानाविध प्रभावों का वर्णन समान रूप मिल जाता है। उसी तरह इसमें नवीन अनुभूतियों, मानसिक

अन्तर्द्वन्द्वों, विचारान्तरों मध्यों तथा यथार्थ गत्य को झेलने की आन्तरिक पीड़ा को व्यक्त करने के लिए पुरानी व्यञ्जना शैली के प्रति विद्रोह भी है। स्पष्टतः इसका कारण देश के व्यापक जीवन का मोड़ है सन्नान्ति है जो पिछले युगों के विश्व पर नवीन युग का निर्माण कर रही है। इस सन्नान्ति युग में निर्माण के अदृश्य घटुओं से अधिक ध्वस के अवशेष दिखाई पड़ने लगे तो आश्चर्य क्या। समस्त युग-चेतना को सवेदिन करके उमरों अभिव्यक्ति का रूप देने वाले कवि का दायित्व इस युग में सबसे अधिक जटिल और असाध्य हो गया है। उसको इस युग के समस्त मध्य, विषमता, विशृङ्खलता को झेलना ही होगा। यदि वह झेल नहीं सकेगा तो युग उसमें सवेदिन नहीं हो सकेगा। यह उसी का दुस्तर कर्तव्य है कि सन्नान्ति-वालीन मध्य और ध्वस को छाती पर झेल कर नये युग की आस्था और उसके विश्वास को जन्म दे। फिर इस बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजना भी आज के कवि के लिए अनिवार्य हो उठा है।]

यहाँ अभिव्यञ्जना के रूप और शैली के प्रश्न को जान-बूझ कर छोड़ा जा रहा है, क्योंकि हमारे सामने मूल प्रश्न सामाजिकता का है। आज का कवि केवल अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-मात्र को अपना लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्व को मान कर चलता है। आज का कवि व्यक्तिवाद को घोषित करके अपना नहीं मानता। पर स्वीकार करने अथवा न करने से समस्या का समाधान नहीं होता। प्रश्न है कि आज की कविता में कुछ, निराशा, अवसाद, आदेश दुरुहता, अस्पष्टता, विशृङ्खलता आदि का कारण क्या है? इस स्थिति से दो प्रकार के निष्कर्ष सामान्यतः निकाले जाते हैं। कुछ का कहना है कि यह सब पश्चिम की नकल है, आरंभित भावशीलता मात्र है। इन आलोचकों की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ये जितने पश्चिम की रचनाओं से अपरिचित हैं उतने ही नयी भावशीलता की परछाई में कंधे

भी हैं। दूसरों का कहना है कि यह घोर धैर्यविरक्त दृष्टिकोण का परिणाम है, पलायनवादी मनोवृत्ति है। इन मतवाजियों के विचार में सत्य का आभास अधिक है और आभास इसलिए कि उन्होंने अपनी बात स्थापित करने के लिए वर्तमान कविता को गनत दृष्टिचोप का आधार प्रदान किया है। सत्य इसलिए कि त्रिम यूरोप की कविता से इस कविता को अनुप्राणित माना लिया गया है यह घोर धैर्यविरक्त तथा पलायनवादी कविता थी। जो नयी कविता में केवल कृष्ण, निराशा तथा आम्हाहीनता आदि देयने हैं, ये या तां इस कविता के सम्पूर्ण ध्यापक अर्थ को ग्रहण नहीं कर सके हैं अथवा जान-बूझ कर किसी उद्देश्य में स्वीकार नहीं करना चाहते हैं।

पहले ही इस बात का निर्देश किया गया है कि यूरोप पिछले युग में जिस सन्नान्ति की स्थिति में गुजरता आ रहा है उसमें और अपने देश की वर्तमान सन्नान्ति की स्थिति में अन्तर है। यूरोप में १९वीं शती के विज्ञानवाद से उत्पन्न अनास्था जितनी गतिशील, प्रवेगपूर्ण थी उतनी ही सर्वग्राही भी, साथ ही उसके मानववाद का आधार भी निर्यल था। इसके विपरीत इस देश की आज की अनास्था पिछले युगों की जड भ्रम आस्था के प्रति गहरा विद्रोह है। यूरोप की समस्या आस्थाहीनता है तो हमारे देश का प्रश्न आस्था की जडता का है। शताब्दियों से इस देश का जीवन अपनी पिछली सांस्कृतिक मर्यादाओं में जकड़ कर बंध गया है। युग बदले, जीवन धारा आगे बढ़ी पर ऊपर जमी बर्फ के समान ये मर्यादाएँ ज्यों-की-त्यों बनी रही। सैकड़ों वर्षों के बाद १९वीं शती के अन्तिम चरण के जागरण में हमको लगा कि हमारे इन सांस्कृतिक मूल्यों और मर्यादाओं पर गहरी काई जम चुकी है, उनकी सारी उज्ज्वल चमक जाती रही है। फिर भी विदेशी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत हमारा विश्वास बना हुआ था कि इस काई के नीचे मूल्यवान् सिक्के हैं। परन्तु पहले महायुद्ध के बाद से ज्यों-ज्यों देश के स्वतंत्रता-संग्राम का रूप स्पष्ट होत

गया, उमी के साथ यह भी स्पष्ट होता गया कि कोई छूट जाने पर भी इन पुरानी मूल्य मर्यादाओं में चमक जेप नहीं रह गई है। इस नए आगत युग में इनको नेवर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

इस स्थिति में हमको यूरोप में प्रेरणा और प्रवाश मिलने की सम्भावना हो सकती थी, राष्ट्रीय जागरण के दौरान में देश ने ऐसा किया भी था और ऐसा नहीं है कि इस दिशा में प्रयत्न किया ही न गया हो परन्तु दो कारणों में ऐसा सम्भव नहीं हो सका। देश की व्यापक जीवन-धारा का प्रवाह दूसरी धाराओं के नियम से शासित या नियंत्रित नहीं हो सकता, सभ्यता और मूल्यगत उपलब्धियों की बनमें नहीं लगती, वे जीवन के विकास-क्रम में अपने आप स्थापित होती हैं। हमारे अनिश्चित यूरोप की सभ्यता और सभ्यता की चमक-दमक के अन्तराल में स्वयं मध्य और विषमता पाए रही थी ज़िगजा विस्फोट द्वितीय महायुद्ध था। परिणामस्वरूप यह युग अथवा जड़ता का युग है ज़िगमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएँ झूठी पड़ गयी हैं। हम मूल्य और आदर्शों की खोज बहुत कर रहे हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पास इसका बहुत बड़ा आधार है, बहुत बड़ी परम्परा है। परन्तु समाज की जड़ निष्प्रियता ने इन समस्त आदर्शों को खोखला बना दिया है। हम धर्मनिष्ठ हैं, आदर्शवादी हैं, मानवतावादी हैं, पर सब कुछ होकर भी वह आन्तरिक निष्ठा का बल हममें नहीं है जो जीवनधारा की अद्वितीयता है। यह समाजवादी बुद्धि, निराशा, अवसाद तथा अंध आस्था का परिणाम है कि हम इन सबसे बाहरवृद्ध व्यक्तिगत स्वार्थों, बेईमानी, घुमघोरी, धोखाधड़ी, अवैयक्तिकता में अनेकों बचाने में अग्रसर हैं। इस सामाजिक जड़ता में न नफरत है और न ईर्ष्या, न स्थिति को न अनिश्चित, न उच्छ्वस और न निम्नचरम ही। यहाँ ऐतिहासिक कारणों की विवेचना जान-बूझ कर नहीं की गई है, केवल ऐतिहासिक का बल का उपस्थित किया गया है।

आज की इस सामाजिक परिस्थिति ने कवि को समेदिन किया है। यह इस संप्रदाही जड़ता और कृष्ठा का अनुभव अपने जीवन में कर रहा है। यह कृष्ठा पलायनवादी न होकर परिस्थिति-जन्म है। उसके मन का सघर्ष, विषमता, आवेश, विभ्रतता सभी इस सामाजिक परिस्थिति का संवेदन है। समाज जिस परिस्थिति में अनायास पड़ा हुआ है, उसका अनुभव यह घटित अस्पष्ट रूप में कर पा रहा है। कवि उस परिस्थिति से टकरा रहा है और यह सन्नान्तिकालीन स्थिति का स्वयं लक्षण है। नदी के प्रवाह पर जमा हुआ बर्फ़ समान रूप से सारे जल-विस्तार की गति को रोक देता है। पर उसकी बाधा का एहसास अन्तर्वर्ती धारा को ही होता है, वह उसको काटने का दुर्दम प्रयास करती हुई टकरा कर नीचे से बहती है। आज के कवि का सघर्ष, उसकी आशा-निराशा-जन्म कृष्ठा व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक है। उसके विषय में सबसे बड़ी बात यह कही जा सकती है कि यूरोप के पिछले कवियों के समान उमने अपने भविष्य को खोया नहीं है, कम से कम उसका भविष्य का विश्वास बना हुआ है। यह ठीक है कि इन कवियों में मार्ग खोजने का सघर्ष ही अधिक परिलक्षित होता है और यह आगे बढ़ कर निर्माण के पथ को प्रशस्त करने वाले सघर्ष से बढ़ा नहीं है, फिर भी इस मोड़ पर यह सघर्ष कम महत्त्व का नहीं है।

नियी कविता के सम्बन्ध में अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न है सामाजिक प्रेषणीयता का। यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि आज का कोई भी कवि इसको अस्वीकार नहीं करता। परन्तु आलोचकों का सबसे अधिक आक्षेप इसी बात पर है। मुझे लगता है कि आज की साहित्य-चर्चा में सबको अधिक उत्तम और भ्रम की स्थिति साधारणीकरण तथा समाजीकरण के प्रश्न को लेकर है। साधारणीकरण के माध्यम से अनेक बार समाज की भावशीलता के समस्त स्तरों को समान मान लिया जाता है और समाजीकरण के रूप में साहित्य तथा लोक-साहित्य को समान स्तर

का स्वीकार कर लिया जाता है। युग जीवन की विचारगत्मक तथा भावात्मक उपलब्धियों के बाह्य साहित्य को जनता के निकट पहुँचाने और उसकी वस्तु बनाने की बात और है और समस्त साहित्य को लोक-साहित्य के स्तर पर उतार लाना विलकुल भिन्न बात है। नदी के सम्पूर्ण प्रवाह के जल का ऊपरी स्तर समान होता है, पर तल की गहराइयों में अन्तर होता है, मूल धारा की गति और सामान्य प्रवाह की गति में अन्तर होता है। मूल धारा सम्पूर्ण प्रवाह से भिन्न नहीं है और न उसका कोई अन्य अस्तित्व है। पर साथ ही सम्पूर्ण प्रवाह को नियोजित और गतिशील करने वाली मूल धारा ही होती है। आज की कविता का कवि युग चेतना की मूलधारा का भ्रम है और उसकी आकुलता की सवेदनीयता मूल धारा तक ही सीमित जान पड़ती है। परन्तु धारा समग्र प्रवाह की गति का लक्षण है, प्रतीक है और इसी प्रकार नयी कविता का सम्बन्ध युग से है, समाज से है। वह आज के युग के सपनों को झेलने वाली चेतना का स्फुरण है, और उसकी प्रेषणीयता भविष्य के विश्वास तथा आस्था को जन्म देने की पीड़ा सहने वालों की वस्तु है। ऊपर की जमी हुई बर्फ की जड़ना को तोड़कर बहने वाली धारा के वेग का अनुभव अतल की गहराइयों नहीं कर पाती हैं, उनके लिए परिवर्तन तथा गति का कोई अर्थ नहीं। और न उस वेग का अनुभव कट कर अलग हुए सेवार से आकुलित स्तर-प्रवाह जल-खंड ही कर पाते हैं। यह धारा तो सारे प्रवाह की गति को अनायास ही नियोजित करती हुई आगे बढ़ती जाती है।]

नयी काव्य-व्यंजना की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

[लक्ष्मीकान्त वर्मा]

नयी कविता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ आधुनिक युग के मानव-जीवन की विपात्त, जर्जरित एवं कठोर परिस्थितियों का एक विशद सम्बन्ध है। आज का युग खासकर के दो महान् युद्धों की पृष्ठभूमि में रख कर देखने से ऐसा लगता है कि मूल्यों और आस्थाओं की वह परम्परा जो आज से बीस वर्ष पूर्व ग्राह्य थी, आज के जीवन-वृत्त से बिल्कुल ही पृथक् है। यही नहीं, विगत परम्पराएँ, मान्यताएँ और प्रतिमान आज के जीवन की स्थितियों को बहन करने में पूर्णतया असमर्थ भी हैं। लेकिन इससे बढ़कर भयकर स्थिति यह है कि विगत मान्यताओं के खण्डित होने के साथ अधिकांश लोगों की जीवन-दृष्टि में केवल दो ही चीजें व्याप्त हैं, पहली तो विगत परम्पराओं के प्रति मोह और दूसरी वर्तमान के प्रति असंतोष। यह सत्य है कि आज विगत जीवन का सन्दर्भ नष्ट-भ्रष्ट हो चुकने के बाद उन नयी आस्थाओं को तेजी से प्रतिष्ठित होना चाहिये था जिनका जन्म इस सक्रमण में हुआ है। लेकिन ये नयी आस्थाएँ यदि काल के क्रमिक विकास के साथ विकसित होती तो सम्भवतः आज का व्याप्त भ्रम अधिकांश रूप में न पैदा होता। ऐसा न होने से वह मूल्य और वे आस्थाएँ केवल उस विक्षत वातावरण में झूबी सी लगती है लेकिन उनका विकास अन्धकार के गर्भ में ही रहेगा, ऐसा कहना अनुपयुक्त होगा। आज यद्यपि एक ओर अतिवादी टोटे लिटेरियन-इज्म और पूर्वनिश्चयवादी प्रवृत्तियों का हास उन्मुख दिग्भ्रम जनित अप-वादों के साथ स्वच्छ मानवीय चिन्तन को दुविधा और आशका के वाता-वरण से गृहीत करना चाहता है, लेकिन इन सबके बावजूद आज वह

मानववादी मूल्यों की परम्परा विवर्धित हो चुकी है जो अपने स्वरूप में इन अनिवार्य विवर्धितियों को नाट्य रूप में जीवन के सर्वथा नए परिमाणों को प्रतिष्ठित करने में सफल होगी।

अस्तु युद्धजनित स्थितियों पण्डितों के ज्ञान के कारण आज का मानव स्थिति अधिक जटिल और विषम रूप में व्यक्त हुई है। विश्वव्यापी स्तर की मानवस्थिति अन्तर्गत मानव के परिदृश में आवृष्ट है। हमें इस मानव परम्परा के प्रति अनावश्यक मोह और वश्यात के प्रति अनावश्यक शंका ही समाप्त रूप में व्यक्त है। यह अमान्य भविष्य के प्रति अनावश्यक शंका होने के नाते ही सम्भव है। अतीत परम्परा के प्रति अनावश्यक शंका को ऐसे ही लोगो का है जो भविष्य के प्रति आस्थावान थे जिन्होंने मानव-जीवन की सम्भावनाओं के प्रति विश्वास और आस्था खोने का प्रयत्न किया है उनका ही स्वर नहीं बखिता में व्यक्त हुआ है।

मानव में मनुष्य के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध का कारण सामूहिक एवं सामूहिक मूल्यों का विघटन है। समाज की एकतापूर्णता ही इन दोनों महापुरुषों में अन्तर रूप में विद्यमान हुई है। एक ही सामूहिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टटना और दुर्गम और वैयक्तिक सम्बन्धों में विवर्धित। इन दोनों के बीच में एकतरफा मानव जीवन की शक्ति, स्थितियों, अवस्थाओं और बुद्धियों से परिपूर्ण हो उठी है। युद्ध के अन्तर्गत मानवों के वे स्तर में सामूहिक सम्बन्ध जो सामान्य के अन्तर्गत एक विशिष्ट रूप से और जैसे आ रहे थे, सामान्य रूपों के सम्बन्धों में स्तरों के स्तरों पर आ रहे हुए। ईश्वर, जीवन, सामूहिक जीवन, मानव और मानवों को अब वह स्तरों के स्तरों वाला स्तर का है अन्तिम विशिष्ट स्तरों पर रहे। जीवन, मानवों का अन्तर्गत स्तरों के स्तरों के स्तरों पर स्थित होने लगा। मानव और मानवों के एक स्तरों के स्तरों के स्तरों के स्तरों को अब देखो है उनका स्तरों के स्तरों के स्तरों के स्तरों के स्तरों

है। मानविक मूल्यों के विपरीत और नई आस्थाओं के प्रस्तुत में सभ्यता मानव रूप से बहुत कुछ प्रभावित होती है। उसकी बहुत सी मान्यताएँ टूटती हैं और उनके स्थान में नयी सम्भावनाएँ विकसित होती हैं।

मानविक रूप पर ये मान्यताएँ जो सामन्तवादी और मध्यकालीन परम्परा से श्रवित थीं अन्तर्गत प्रतीत होने लगीं। प्रमाण के लिए रीति के प्रति मोह मध्यकालीन युग की एक देन थी, जो आधुनिक युग में मनुष्य के व्यापक जीवन के सन्त रूचि को बहन करने में असमर्थ निष्ठ हो गई। मनुष्य के व्यक्तित्व की बहुत सी अतिताएँ विज्ञान ने मिटा दीं। जीवन का प्रयोग भी काले रित्नु हो गया। परिणामस्वरूप उन आचारों की हत्या पर उठ जो अर भी अधर्ममय और दैविक विश्वास पर अवलम्बित थे—

अर्थः नये शब्दः

सहृदि के सहृदि के

नये सम्पन्न के बहुतों

नये शब्दों का सोता बस

इसे तरह से बह करता है।

दुर्बोत्तर एवं दुर्बलताएँ परिस्थितियों में नैतिक रूप से यह परिवर्तन हुए—

१—यथार्थवादी मान्यताओं की स्वीकृति इस नये धरातल का मूल सत्य है। उदात्त एवं सुमन दैविक मान्यताएँ स्वतः बिखर कर यथार्थवादी सोनाओं की ओर अग्रसर होने लगीं।

२—मानविक मूल्यों की स्थापना नीति में व्यक्ति की सत्ताओं की

अंश मान कर चतना नई कविता का केन्द्र बिन्दु है। जहाँ एक

विचार का समाजीकरण आत्मिक को प्रधान देता था, वहाँ साम्य-

वादी व्यवस्था ने भी उसी आतंक को प्रश्रय देना चाहा। परिणामस्वरूप नयी कला रचि इन दोनों से अधिक व्यक्ति के प्रति निष्ठावान होकर रहने में आस्था प्रवृत्त करने लगी।

३—रीतिगत व्यवस्था के जाल में मानव व्यक्तित्व की हीनता मनुष्य को अपमानित प्रतीत होती थी। इसीलिए उसका विद्रोह और आत्म-रक्षा का स्वर यथार्थ के साथ मिलकर अधिक प्रौढ़ रूप में व्यक्त होने लगा।

४—भावनाओं की स्वतन्त्र सत्ता में कलाकार की आस्था आरोपित अथवा बाह्य प्रेरित मतवादों से अधिक आत्म सूचित तत्त्वों से प्रेरित होने लगी। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को जहाँ वह सामाजिक आवश्यकता ममप्रता या वही भावनाओं की स्वतन्त्रता में वह अपनी आत्म-आस्था के प्रति अधिक निष्ठावान भी होने का प्रयास करने लगा।

५—नैतिक स्तर पर भी मूल परिवर्तनों में अन्तर आना अनिवार्य था। नैतिकता की सापेक्षता व्यक्ति से है या समाज से या शासन सत्ता से या निरपेक्ष मूल्य से—ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिन्होंने नयी विचारधारा को प्रेरित किया।

६—यहीं पर उस अहम्वाद का भी विकास हुआ जिसने आधुनिक अभिरुचि को साधारणीकरण एवं समाजीकरण के साथ प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। यह चेष्टा इस बात की विद्रोहात्मक भावना की अभिव्यक्ति थी कि मनुष्य केवल यत्नवत् चलना नहीं चाहता। उसकी एक अपनी निर्जा चेतना है जिसे समाज और साधारण अभिरुचि के साथ सम्बद्ध होना है। अस्तु, नई कला के भाव-बोध में शैक्षिक तत्त्व की प्रधानता रही अहम्वाद की देन है।

अंशेय : नयी व्यञ्जना :

रहने दो, वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो

मानव के प्रत्येक अहम् में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका।

इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि अपनी अभिजात मनो-
भावनाओं को व्यक्त करने के लिए आज का कवि नये शब्द, नयी व्यंजना,
नया सौन्दर्य बोध, नये प्रतीकों और बिम्बों का प्रश्रय ले, उनको नये
रूप और नये प्रकारों से व्यक्त करे। इस नयेपन के पीछे वह मनोवैज्ञानिक
स्थिति है जो कलाकार को घिसे-पिटे शब्द, टूटी-फूटी व्यंजनाओं और
प्रतिमानों को तोड़ कर सर्वथा असस्कारी शब्दों, विशुद्ध प्रतीकों और
बिम्बों का आधार लेकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बाध्य
करती है। यही कारण है कि छायावाद की शब्दावली और नयी कविता
की शब्दावली में जमीन और आसमान का अन्तर है। छायावाद या उसके
बाद के काल की शब्दावली, प्रतीक और बिम्ब आज की मन स्थिति को
व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण विशृङ्खल एवं भावच्युत हो गये
थे।

सवेत रूप से इन समस्त स्थितियों का जो प्रभाव समूचे जीवन पर
पड़ा उसने इस बात के लिए बाध्य किया कि आज के अनुभव के उपयुक्त
शैली और शिल्प का भी निर्माण हो। शिल्प सौष्ठव का वह भाव और
वह मन्तव्य जो हमें ऐतिहासिक या छायावादीकालीन कविता में मिलता
है, वह आज के विशृङ्खल अस्त-व्यस्त जीवन के भार को कभी वहन ही
नहीं कर सकता था। इसीलिए जहाँ नयी कविता को समझने के लिए
बुद्धि और बोध के साथ सद्भावना होना आवश्यक है वही उसके साथ
वास्तविक सन्दर्भ और दृष्टिकोण को भी ग्रहण करना आवश्यक है। यही
नहीं, उसके साथ उस ऐतिहासिक सत्य को भी ध्यान में रखना जरूरी
है जो देश और काल की परिस्थितियों का निर्माण करता है, जो एक
विशेष प्रकार की धारणा को प्रश्रय देकर उस मनोवैज्ञानिक सत्य को

उद्घाटित करता है जिससे अनुभवों के स्तर में ही नहीं बल्कि अभिव्यक्ति के माध्यमों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है।

नयी कविता की पृष्ठभूमि में इन्हीं कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का प्रभाव है जिनमें आधुनिक कला जिज्ञासा का सर्वथा नया उपादान और माध्यम में व्यक्त करने का प्रयास किया है। यन्तुन अन्य किसी भी नया दर्शन की नयी कविता भी नयी मानसिक स्थितियों अनुभवों और मनुष्य-जीवन तथ्यों से आवद्ध है। विचारबोध और संस्कार निष्ठा दोनों ही नये स्तरों पर आवर सर्वथा नये में लगने लगने हैं। इसीलिए नयी कविता की स्वीकृति में प्रवृत्तियाँ इन बातों की ओर हैं कि परम्परा में बहुत कुछ ऐसा है जो चेतनाहीन, निष्प्राण, निर्जीव प्रेय-वादात्मक जड़ता में उन जड़ता तथ्यों से विपदा हुआ है जो स्वतन्त्र न होने के कारण अपनी स्थायी और अर्थ की सम्भावनाओं को नष्ट कर रहा है। उन समस्त अभिव्यक्तियों कवियों के प्रति नयी कविता का मनोदैर्घात्मिक अस्पर्शपूर्ण उत्थित हो है क्योंकि ज्ञान-बोध का मूल स्तोत्र संवेदन और उस संवेदन में निहित अर्थ और सन्दर्भ का बोध है। यदि कोई भी संवेदना उस नये सन्दर्भ का ग्रहण करने में असमर्थ है जो देश और काल की दृष्टि के साथ विशिष्ट होती है तो उसका महत्त्व कुछ जहाँ के दायित्व ही रह जाता है।

इस सन्दर्भ में 'लाव' का यह मत था कि प्रत्येक ज्ञान का मूल वेद ही भाव स्तर है। पहला संवेदना स्तर और दूसरा सन्दर्भ स्तर। ज्ञान में होने वाले मानसिक विचारों-तथ्यों के आधार पर विशिष्ट होते हैं और इस मानसिक स्तर की प्रकृति आत्मिक धर्मता के संवेद सन्दर्भ स्तर है। उसका यह भी कथन है कि कालों का बहुत बड़ा दायित्व विशिष्टों में स्थापित होता है और जिसके साथ अनुभव के विशिष्ट होते हैं इसीलिए प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक बोध-तथ्य अनुभव के दायित्व में होते हैं। अनुभव-बोध के आधार पर है—१. संवेदन २. सन्दर्भ

अर्थ, ३. विचार कल्पना, ४. अनुभव, ५. मानसिक स्तर पर अन्तर-चेतना की सापेक्षता । अर्थात्

१—आज की सवेदनशील अनुभूतियों का विश्लेषण ।

२—सन्दर्भ : अर्थ का मतलब, विचार के तथ्य और नयी कविताएँ ।

३—नयी कल्पना और विचार तथ्य ।

४—नये अनुभव की मानसिक स्थिति ।

५—मानसिक स्तर पर अन्तरचेतना की सापेक्षता ।

वर्तमान सवेदनशील अनुभूतियाँ आज की रचना में मात्र आन्तरिक प्रस्फुटन से विकसित नहीं होती । उनका एक बाह्य स्तर भी है । यह बाह्य स्तर आज के जीवन के उस सत्य से सम्बद्ध है जिसमें समस्त मानव की अन्तर्वेदना हमारी सवेदना से सम्बद्ध होकर व्यक्त होती है । युग की प्रवृत्ति उस समष्टि के मुख-दुःख, राग-अनुराग, अभिशाप और वरदान से हमारे वैयक्तिक जीवन को सम्बद्ध करती है और हम उससे संचालित एवम् प्रभावित होते हैं । हमारी विचार-शक्ति, धारणा-शक्ति, अनुभूति के स्तर पर व्यापक एवम् विराट मानव की भवतव्यता के प्रति उन्मुख होती है, उसमें द्रविण और प्रभावित होती है । मानव व्यक्तित्व की यह सामूहिक वेदना, देश-काल की सीमा में अपने-अपने रूपों के माध्यम से व्यक्त होती है । प्रमाण के लिए पिछला युद्ध ही लीजिये । भारत किसी भी रूप में उस युद्ध से सम्बद्ध नहीं था । उसने उस अमानुषिक बर्बरता का श्लाघ भी नहीं डोला है लेकिन उस युद्ध की व्यापक विभीषिका ने हमारे जीवन को प्रभावित किया है । उसने हमारी चेतना को सर्वथा नया स्तर दिया है । मानव-जीवन की विषमता को अनुभूतियों में गहराई में पिरोया है । समस्त अनुभव को एक बार यह चेतना जानती है जिसके माध्यम से हम उन समस्त स्थितियों को जागरूक और ग्रहण करते हैं जो इस अद्वैत-शलाघी में समस्त विकलांगता,

अमानुषिकता और बर्बरता को जन्म देती रही है। यह सहधर्मी भाव और यह सहभोक्ता की अनुभूति वह मनोवैज्ञानिक स्तर है जहाँ से हम छायावाद एवम् रहस्यवाद के भावक्षेत्र से व्यापक यथार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। उन सारी संवेदनाओं को बहन करने हैं जिन्होंने गत दो दशकों में समस्त मानव सन्दर्भ को ही बदल डाला है। उसके भाव, अनुभव और संवेदना को नयी सम्भावनाओं के साथ प्रेरित किया है।

जब हम मानव-जीवन के सन्दर्भ की बात कहते हैं तो इस सन्दर्भ में हमारा स्पष्टतया यह मतलब होता है कि आज इस वर्तमान युग का जीवन और उसके आगम्य का वातावरण आज से २० वर्ष पहले के व्यवधान से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक कलाकार अपने वैयक्तिक चरित्र और अपने वातावरण का समवेत रूप अपनी कला में किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त करता है। कलाकार का व्यक्तित्व भी वातावरण से विवर्तित होता है लेकिन स्वयम् वह वातावरण की प्रतिक्रिया मात्र नहीं रहता बल्कि अपनी आत्मानुभूति के आधार पर वह भी वातावरण को कुछ न-कुछ देता है। वह अपने प्रवृत्ति विश्वास, अविश्वास को समार्पित करता है और फिर अपने भावों को नये आयामों और सम्भावनाओं के साथ व्यक्त करता है। जहाँ यह आदान-प्रदान सत्य है वही कोई भी कलाकृति मात्र इतने ही में सन्तुष्ट नहीं होती। उसके माध्यम भावान्तरण (Transformation of Emotion) की प्रक्रिया भी सम्बद्ध है। वह उस संवेद-भावना का आत्म साक्षात्कार करके उसे नये सन्दर्भ में प्रयुक्त भी करता है। इसीलिए सन्दर्भ से हमारा आशय है : वर्तमान स्थिति और उगकी भाग्यवत परिणति में सभावित कल्पना विचार (Idea and Imagination) का उल्लेख।

कल्पना स्वतः विचार (Idea) की आधित्य रहती है। जिन्हीं भी कल्पना का जब तक प्रगटन नहीं होता तब तक वह अगभावी प्रतीत होती है।

विचारों की पृष्ठभूमि में अनुभव (Experience) का बड़ा हाथ होता है। ये विचार और अनुभव सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तरों से विकसित होते हैं। उनमें व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य जीवन के विभिन्न अन्तरालों की प्रस्तावना निहित रहती है और यह अन्तराल हमारे मनो-वैज्ञानिक भावों के ऊपर बनते-बिगड़ते हैं। अनुभव-क्षेत्र की सार्यकता में ही संस्कार और परम्परा परिष्कृति होकर व्यक्त होते हैं। इसी परिष्कृति का परिणाम "नयेपन" के साथ व्यक्त होता है क्योंकि जीवन के आचार, विचार, मर्यादा और मूल्य सामाजिक, वैयक्तिक एवम् सामूहिक चेतना के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं और अनुभवों की नवीनता इस परिवर्तन को स्वीकार करके विचार, कल्पना और दृष्टिकोण के घरातल को भी बदल देती है।

नयी कविता के साथ सम्बद्ध यह मनोवैज्ञानिक दुरुहता उसके नयेपन का सापेक्ष सत्य है। आज की जीवन की पृष्ठभूमि में खण्डित मर्यादाएँ, टूटे मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा, मानव आत्मा की बड़ी प्रताड़ित भावनाएँ, भौतिक द्वन्द्वों के साथ नयी भावनात्मक, रागात्मक अनुभूतियाँ इन सबका सामूहिक प्रभाव हमारी कला व्यञ्जना और अभिरुचि में निहित है। इन सबका समवेत प्रभाव और इनकी समवेत प्रतिक्रिया ने जीवन को दार्शनिक स्तर से विवेचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत कर दिया है। यह विवेचना हमारे कला सृजन का एक मुख्य अंग है जिम्मे आत्मानुभूति और अहम् निष्ठा को जागरूक बनाया है। इसीलिए नयी कविता का वास्तविक मूल्यांकन करते समय हमें चाहिये कि हम निहिन तत्त्वों को ग्रहण करें जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर निम्नलिखित परिधियों का निर्माण करते हैं—

१—विवेचन प्रवृत्ति संस्कारगत, आर्थिक और भावनात्मक मूल्यों की।

२—आत्मानुभूति की सन्नियता • विद्रोहात्मक सन्नियत।

निक गत्यों को उद्धरित किया है जो अभी तक परम्परा की ज्ञान परिधि के बाहर थे। ये वैज्ञानिक मन्त्र मात्र बौद्धिक अनुभूति नहीं हैं बरन् वे एक निश्चयन मन्त्राध्य को आभाषित करते एक नया स्तर विकसित करते हैं। विवेचनात्मक स्तर पर आज के जीवन की समस्त उन्नतियों का एक समवेत प्रभाव हमारे विचार और कल्पना में सम्बद्ध है। इस विवेचना में हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन का संपर्क, उमका सन्तुलन, उसकी अंग्रेजित मर्यादा और उसकी सीमाओं को स्वीकृति, नयी कविता के नये उत्पादन, जीवन के बदलते हुए सन्दर्भों में प्रकृति होने हैं और गति के साथ विकसित होकर विचार और कल्पना को प्रभावित करते हैं।

किन्ती भी वस्तु का ज्ञान सदैव संवेदनशील अनुभूति पर ही आधारित है लेकिन यह संवेदनशील अनुभूति अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यमों को निर्धारित करती है। आज के युग में सामाजिक और साम्प्रदायिक विशेषताओं की सारहीनता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। सामन्त-वादी परम्पराएँ और धारणाएँ आज के जीवन के समस्त सारहीन और खोखली हो चुकी हैं। कोई भी मान्यता अपनी रीति व्यवस्था के भार को आज के नये सन्दर्भ में बहन करने में असमर्थ है। आज जातीयता, साम्प्रदायिकता, समूहवादिता और सामाजिकता के प्रायः समस्त प्रतिमान नये आयामों में प्रवेश कर चुके हैं और यह नया आयाम वैयक्तिक विवेक का आयाम है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक सत्य वैयक्तिक सत्य से प्रभावित है। वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक छाप न होकर सामाजिक प्रतिमानों पर वैयक्तिक छाप नये युग-मन्त्र के रूप में विकसित हो रही है। इसी अर्थ में आज की वैयक्तिक निष्ठा उन समस्त सामाजिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा प्रस्तुत करती है।

• २०६ मानव के मानसिक विकास का चिह्न है, जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है। नयी कल्पना नयी

उचितता, नये सन्दर्भ की सार्थक चेष्टा है। यही नहीं, वह विवेक की, औचित्य की, संवेदन की जननी है। आज जो लोग मात्र परम्परा पर जीवन की सारी सक्रियता आधारित करने की चेष्टा करते हैं वे इन विवेकशील तत्त्व की सार्थकता से डरते हैं। जब कभी भी सामाजिक प्रतिमानों का विघटन होता है और उस विघटन में मस्तिष्क और परम्परा क्लृप्त हो जाती है तब वैयक्तिक विवेक स्वतः जीवन को चल देता है। आज सांस्कृतिक मूल्यों और परम्परागत व्यवहारों में स्पष्टतया विघटन का तत्त्व वर्तमान है इसीलिए आज वैयक्तिक विवेक ही हमारे जीवन का मन्त्र है।

यहाँ पर विवेक, विवेचना के साथ स्वार्थ और अन्धविश्वास को समझ लेना आवश्यक है। आत्म-विवेक और आत्म-विवेचना किसी सापेक्ष अनुभव पर ही आधारित होते हैं। स्वार्थ और अन्धविश्वास आत्म-अनुभव के आश्रित नहीं होते, उनका सारा बल परम्परा और उपयोगिता पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्म-मार्ग की प्रतिपालित भावना है। यह आत्म-मार्ग अपनी स्वानुभूति का प्रत्यक्ष पात्र ही आने अग्रसर होता है। आज का कलाकार अपनी आत्मा आत्म-विवेक पर इसलिए आधारित करता है क्योंकि वह स्वानुभूति की सार-मत्ता को स्वतः अनुभव करता है। उसकी दृष्टि विभूतल रुद्धियों को कभी भी नहीं पसन्द करती। वह अपने को सन्दर्भ के सार्थक परिवेश में सम्बद्ध पाता है इसीलिए वह सन्दर्भहीन तत्त्वों की उपेक्षा करके अपनी आत्मानुभूति के साथ ईमानदार होने के नाते किसी भी प्रकार से आरोपित मनकाद की परवाह नहीं करता। यह परवाह न करने की प्रवृत्ति ही आज के भौतिक जीवन का परिणाम है जो सर्वथा मानव नहीं रहा उस मन्त्र।

इस वैयक्तिक विवेक के मूल में वैयक्तिक मार्ग और व्यक्तिगत विश-शीलता भी देश और काल द्वारा निर्मित परिस्थिति की देन है। जहाँ

निरुक्त गल्पों को उद्धरित किया है जो अभी तक परम्परा की ज्ञान परिधि के बाहर थे। ये वैज्ञानिक गल्प मात्र बौद्धिक अनुमति नहीं हैं बल्कि एक निश्चिन्त मन्त्रव्य को आभासित करके एक नया स्तर प्रियमित करने हैं। विवेचनात्मक स्तर पर आज के जीवन की समस्त उत्पन्नियों का एक समवेत प्रभाव हमारे विचार और कल्पना में गम्भीर है। इस विवेचना में हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन का संपर्क, उगता मनुष्य, उसकी अंग्रेजित मर्यादा और उसकी सीमाओं को स्वीकृति, नयी कविता के नये उपादान, जीवन के बदलने हुए मन्दर्भों में प्रचुरित होने हैं और गति के गाय दिगन्ति होकर विचार और कल्पना को प्रभावित करते हैं।

किसी भी वस्तु का ज्ञान सदैव सवेदनशील अनुभूति पर ही आधारित है लेकिन यह सवेदनशील अनुभूति अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यमों को निर्धारित करती है। आज के युग में सामाजिक और साम्प्रदायिक विरोधताओं की सारहीनता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। सामन्तवादी परम्पराएँ और धारणाएँ आज के जीवन के समस्त सारहीन और खोखली हो चुकी हैं। कोई भी मान्यता अपनी रीति व्यवस्था के भार को आज के नये सन्दर्भ में सहन करने में असमर्थ है। आज जातीयता, साम्प्रदायिकता, समूहवादिता और सामाजिकता के प्रायः समस्त प्रतिमान नये आयामों में प्रवेश कर चुके हैं और यह नया आयाम वैयक्तिक विवेक का आयाम है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक सत्य वैयक्तिक सत्य से प्रभावित है। वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक छाप न होकर सामाजिक प्रतिमानों पर वैयक्तिक छाप नये युग-सत्य के रूप में विकसित हो रही है। इसी अर्थ में आज की वैयक्तिक निष्ठा उन समस्त सामाजिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा प्रस्तुत करती है। विद्रोह मानव के मानसिक विकास का चिह्न है, जिज्ञासा का महत्वपूर्ण घटक है जो सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है। नयी कल्पना नयी

उक्तिर्मा, नये सन्दर्भ की मायंक बेगुना है। यदि नहीं, तो यह भी
 औचित्य की, गवेषन की जननी है। आज का जगत् इस प्रकार का
 जीवन की सारी सन्निवृत्ता आधारित करने की बेगुना है।
 विवेकशील तत्त्व की मायवता में डरते हैं। जब तक कि
 प्रतिमानों का विघटन होता है और उग विघटन में
 परम्परा कल्पित हो जाती है तब वैयक्तिक विवेक स्वरूप में
 देना है। आज साम्प्रतिक मन्त्रा और परम्परागत व्यवहारों में
 विघटन का तत्त्व वर्तमान है इसीलिए आज वैयक्तिक विवेक ही
 जीवन का सम्बल है।

यहाँ पर विवेक, विवेचना के साथ स्वार्थ और अन्धविश्वास का
 लेना आवश्यक है। आत्म-विवेक और आत्म-विवेचना हिंसा मध्य
 अनुभव पर ही आधारित होते हैं। स्वार्थ और अन्धविश्वास मध्य
 अनुभव के आश्रित नहीं होते, उनका साग बल परम्परा और दारोपित
 पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्म-मन्य की
 पालित भावना है। यह आत्म-सत्य अपनी स्वानुभूति का प्रथम पाद है।
 आगे अग्रसर होता है। आज का कलाकार अपनी आस्था आत्म-विवेक का
 इसलिए आधारित करता है क्योंकि वह स्वानुभूति की मार-सला को स्वयं
 अनुभव करता है। उसकी दृष्टि विभूतल रूढ़ियों को कभी भी नहीं
 पसन्द करती। वह अपने को सन्दर्भ के सार्यक परिवेश से सम्बद्ध पा
 है इसीलिए वह सन्दर्भहीन तत्त्वों की उपेक्षा करके अपनी आत्मानुभूति
 साथ ईमानदार होने के नाते किसी भी प्रकार से आरोपित मतवाद
 परवाह नहीं करता। यह परवाह न करने की प्रवृत्ति भी आज के भी
 जीवन का परिणाम है जो सर्वथा गलत नहीं कहा जा सकता।

इस वैयक्तिक विवेक के मूल में वैयक्तिक माहम और
 नीलना भी देश और काल द्वारा निर्मित है।

उसका विरोध रुढ़ियों और परम्पराओं के प्रति है वहीं उसमें अपने आत्मस्वर और आत्मानुभूति को अपने ढंग से प्रतिष्ठित करते हुए व्यापक मानव की सहज स्वाभाविक निष्ठा के प्रति आस्थावान रहने की निष्ठा भी है। वह केवल नास्तिक के कुण्ठाग्रस्त पतनशील विद्रोह का सूत्रन नहीं करता है वरन् वह उस व्यापक मानव हित का संरक्षक है जिसे समय के दुष्परिणामों ने ध्रम और भ्रान्ति में डाल रखा है। आज की व्यवस्था में अपनी सीमाओं को जानते हुए भी वह साहस से कहता है—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ

लेकिन मुझे फेंको मत

क्या जाने कब इस दुरुह चक्रव्यूह में

अक्षोहिनी मेनाओं को चुनौती देता हुआ

कौंई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय

बड़े-बड़े महारथी

अपने-अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी

निहत्थी अकेली आवाज को

अपने ब्रह्मास्त्रों में कुचल देता चाहें

नव मैं रथ का टूटा हुआ पहिया

उमके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।

‘रथ का पहिया’ और ‘ब्रह्मास्त्र’ दोनों की यथार्थ मत्ता है। हममें सन्देह नहीं कि परम्पराओं का सत्ता अस्तित्व है लेकिन व्यक्ति का आत्म-विज्ञान भी अंग में सीता और तपा हुआ है।

प्रस्तुत आत्म विश्वास के आधार पर ही वह अहम्वादी प्रवृत्ति वि-निन हुई है जिसने नये स्वर के विश्वास को आत्मा प्रदान की है। नयी वदितता के स्वर में उद्भूत भावना का साक्षात्कार एवं सवरण करने के लिए निरपेक्ष सत्ता की अपेक्षा कलाकार का विश्वासगर्भित अहम्

माध्यम धन कर प्रतिमानों को अपनाएन प्रदान करने की चेष्टा कर रहा है। यह कुष्ठाग्रस्त प्रवृत्ति न होकर उस नये आयाम की सृजन संवेदना है जिसमें उदात्त प्रवृत्ति की उत्तर छायावाद पञ्चवहीनता की अपेक्षा व्यक्ति माध्यम में अभिविक्त मगुण प्रधान अहमन्यता की आस्था पूर्णतः अभिव्यक्ति पार्ती है। इस अहमन्यता में आत्म-विश्वास है प्रमाद नहीं, इसमें आत्म-शक्ति है, आत्म-दृष्टि है इसीलिए वह अपने स्नेह सिंचित गर्वीले एवं मदमाने अग्निस्व की गता स्वीकार करते हुए अपने को व्यापक मान-वना के लिए विमर्जित करने में मनोप करता है।

यह दीप ज्वलता स्नेह भरा

है गर्व भरा मद माना, पर

इसको भी शक्ति को दे दो।

यह अद्वितीय यह मेरा यह मैं स्वयं विमर्जित

यह प्रकृत, स्वस्वम् ब्रह्मा, जगत्

इसको भी शक्ति को दे दो।

यह यह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी पाँपा

यह वह पीछा जिसकी महगर्दी को श्वय उसी ने नापा

कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुधुश्राने कड़ुधे नम में

यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र,

उन्नतस्व बाहु, यह चिर अखण्ड अपनापा।

जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय

इसको भक्ति को दे दो।

इसमें सन्देह नहीं कि इस युग का यह अहम्वाद मिथ्या, कुष्ठाग्रस्त पतनोन्मुख अहम्वाद नहीं है। इसमें उदात्त चेतना का स्तर है, आत्म-विश्वास के साथ-साथ आत्म-विमर्जन की वह भावना है जिसमें मानव-समता के प्रति जागरूकता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित की गई है और उसकी

निष्ठा में आत्मस्वर की गांठें गता की जागरूकता की स्वीकृति भी है।
 हममें आस्था के गाय-गाय उग वैयक्तिक भावना की पूर्ण प्रतिष्ठा भी
 निहित है जो आज की परिस्थिति में विशोध करने हुए भी व्यापक कल्याण
 के प्रति अज्ञानत है।

इसी अहम् निष्ठा की अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से हमें श्याम मोहन
 श्रीवास्तव की कविता में मिलती है जिनमें व्यक्ति की कुष्ठाओं को काट-
 छांट कर, उगती गंधर्विन् के लिए व्यापक मानववादी आस्था के प्रति
 प्रेषित करने की आत्मानुभूति अपनी गहराई के गाय अभिव्यक्त की जा
 सती है। यह वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ भावना समस्त विषयताओं के विरुद्ध
 साहस और बल की उपलब्धियाँ प्रदान करती है। हममें भीम और
 मिथ्या साहसवादिता न होकर संतुष्टि नहीं आस्था का प्रतिष्ठामय स्वर
 ही प्रतिपादित हुआ है।

बुझ न जायें
 प्राणों की समिधाएँ
 जीवन की कुण्डाएँ
 होम करूँगा।
 दुबल मन की
 दुविधाओं से
 पापों की प्रेतात्माओं से
 लोहा लूँगा।
 पात-फूल से हीन
 ढाक की लम्बी, नगी
 डालो से बाहे फैलाकर
 विक जाने से प्रथम
 मरण की गोद करूँगा।

छायावाद जिस विचारहीनता और कल्पना की स्थापत्य के अभाव में केवल शब्दों का आडम्बर बन कर रह गया था, तथाकथित प्रगतिशील साहित्य जिस सामाजिक मूल्य के प्रति अप्रत्याशित अनावश्यक रूप से नारेबाजी लगा रहा था, उदीयमान नये कवि का स्वर उसके समक्ष अपने अवलेपन और अपनी वैयक्तिक अहमन्यता को स्वीकार करते हुए अपनी नयी आस्था की प्रतिष्ठित करने के प्रति जागरूक है।

भारत यह कि यह आस्था जीवन के यथार्थ से सम्बद्ध कल्पनानुभूति के नये स्तरों को जागृत करती हुई नयी कविता को 'मानवीय' बनाने में बहुत बड़ा योग दे रही है। आज 'कल्पना' यथार्थ से पृथक् केवल विशुद्ध लोक में नहीं पनप सकती। कल्पना यथार्थ की पृष्ठभूमि में जीवन के अधिक निबट होने के कारण उन सभी गुणों एवं भावों से घोन-घोन है जिनका सम्बन्ध हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन से समान रूप में स्थापित है। यदि प्रगतिशील धारा आन्तरिक और बाह्य के सूक्ष्म चिन्तन में दोष समझती है तो नयी कविता आन्तरिक और बाह्य के सत्य को अपने विवेक-बल से नयी ध्वजना प्रदान करती है। आन्तरिक भावों का सघर्ष और बाह्य परिस्थितियाँ दोनों ही जीवन की उतनी ही सत्यमान स्थितियाँ हैं जिनकी बिना वह सौन्दर्यानुभूति जो रागात्मक प्रवृत्तियों को विवर्तित करने में सहायक है। नयी कविता इन दोनों में कहीं भी विरोधाभास नहीं मानती इसीलिए वह इन दोनों मानवीयकरण प्रक्रियाओं में आबद्ध है। उनकी माँग है—

और जब तक हम गुलगती टाल पर बैठा रहूँ अमहाय,
मुझे मेरे पथ हो

यह पथ केवल आन्तरिक पीड़ा अथवा विषय में पलायन करने के लिये नहीं माँगा गया है बल्कि हम पथ में उन दृष्टि व्यक्त और बाह्य जीवन के साथ विराट सम्पर्क स्थापित करने की चाहना है जो अपनी

अन्तर की तीक्ष्णभूति को बाह्य जगत की विषमता के समक्ष कल्याण-निष्ठ भाव में प्रेषित होकर सम्बद्ध करना चाहती है। यह अनुभूति तथाकथित सामाजिक गत्य की निष्ठाशीलता से कई अर्थों में भिन्न है। पहली तो यह कि इसमें मिथ्या नारावाद नहीं है और न इसमें अनावश्यक साहसिकता ही दिखाई गई है वरन् आत्मानुभूति की यह गहराई है, वह परिप्रेक्ष्य है जो बाह्य विषमता और अगम्यता को आत्ममात् करके अपने रूप में ग्रहण करने के बाद सदानुभूति की मवेदना प्रदान करती है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह आधारभूत परिवर्तन जिसके द्वारा अब तक अन्तर और बाह्य, व्यक्ति और समाज में पृथक्त्व स्थापित किया जाता था वह एक दूसरे में पिरो कर प्रसृत होने के नाने अधिक ज्ञेय और भावबद्ध होकर समन्वित हुआ है। यानी वह अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति सहयोगता की दृष्टि में बदल गयी है। यह नयी कथिना का परिप्रेक्ष्य मनोवैज्ञानिक आदान है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

कामायनी

[नन्ददुलारे बाजपेयी]

प्रसाद जो उस निर-निरुद्ध के उपासक है जिसमें अमृत और इनाइत ही सनातें एकरंग हो गई हैं। आदर्शवादी तो बेचन नीति या अमरत्व के उपासक होते हैं जो समाज में बहुभूयी जीवन में नटस्थ होकर अपनी जड़ खोज बना जाते हैं। कामायनी का जाग्रत ही इस आदर्शवादी देव-मूर्ति के मिथ्या के साथ होता है। यह उस ज्ञान का संकेत है कि जो देव-नाम्नता का धन होता है तब मानव-नाम्नता की मूर्ति होती है। कामायनी का नादर मनु प्रथम मानव है उसी का जाग्रत कामायनी में निहित है। यह मनु जमरों का बन्धु है 'अमर हा मर मर' यह एकरंग मानव है जो देव-मूर्ति को प्रणम्य जागृत रह रहा है। स्वयं ही वह देवताओं से अधिक धीरे-धीरे जागा, प्रसाद जो उसका बचन तो लेते हैं—

तरण तपस्वी-स्ता यह घंटा, साधन करता मुर-श्मशान ।
नीचे प्रलय सिधु सहरो का, होता था सकरण अवसान ॥

×

×

×

अवयव की दृढ़ मात-न्येशियाँ, ऊर्जस्वित था धीरे अपार ।
स्फोट सिराएँ, स्वस्थ रहत का, होता था जिनमें संचार ॥

वह देवताओं के श्मशान का साधन कर रहा था। अमरों की मृत्यु पर विचार कर रहा था ! निश्चय ही वह यथार्थवादी नहीं था, नहीं तो हार पर हाथ रखकर सिर्फ रोता ।

वह पूर्ण युवा था। उसके शरीर की एक झोकी घोर सीजिये—

चिन्ता-कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का, गहता भीतर मधुमय स्रोत॥

स्पुष्ट है कि उसकी चिन्ता का आवेग केवल आगतुक था। यदि एक ओर थोड़ी-सी चिन्ता थी तो वह उपेक्षा से भरी हुई, प्रलय की भी परवाह न करने वाली, यौवन की तरंगिणी में बह गई। मनु अपने प्रेत-पितरों की चिन्ता छोड़कर पहाड़ के नीचे उतरा।

नीचे आकर हरित भूमि में काम-कन्या कामायनी से उसकी भेंट हुई। यह भी अच्छे अवसर पर आई, इसकी सुन्दरता की क्या व्याख्या की जाय ? काम की कन्या ही थी। संगीत विद्या सीखकर आई थी। मनु बेचारा क्या जाने ? वह तो पूर्ण पौरुषवान था, किन्तु नारी का उसे क्या परिचय ? इसलिए नारी ने ही अपना परिचय आप दे दिया। या परिचय सुनकर सैकड़ों यथार्थवादी नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे, किन्तु 'मनु' को इससे क्या ? वह अब का अखंड ब्रह्मचारी अब भी तपस्या की धुन में ही था। तब कामायनी ने उससे कहा—

हृदय में क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवन की निरशेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग, तुम्हें मन में घर सुन्दर वेश !

+

+

+

कर रही सीतामय आनन्द, महाचिति सजग हुई-सी घबरात,
पिच्छ का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित थ्ये संग-दृच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भव-धाम।

इसके पश्चात् प्रेमी और प्रेमाज्ञा का परस्पर आकर्षित होना अन्य विविध रमणीय प्रसंग वर्णित हैं जो काव्य के स्वाभाविक वि

की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होंगे, किन्तु जिन्हें सुनकर तथा-
कपिन आदर्शवादी शायद कोसों दूर भाग जाएँ। वास्तविक आनन्दात्मक
 काव्य-प्रतीकों का समग्र, कर्म और सघर्ष का संदेश, नई काव्य-दिशा का
 सूचक है।

इसके पश्चात् कामायनी की कथा ऐसे स्थल पर पहुँचती है जो
आदर्शवाद को और भी चुनौती देता है। केवल सुखानुभव और विजय
 ही जीवन नहीं है, दुःखानुभव और पराजय भी जीवन है। इतने सुख
 के बाद इसी सुखी दम्पति के जीवन में दुःख के दिन भी आते हैं। कामायनी,
 मनु और एक उनका बच्चा, घर में अब तीन प्राणी हो गए
 हैं। मनु मृगया को जाते हैं, कामायनी तकली कातती है और बच्चा
 बढ़ता रहता है। किन्तु यह त्रय अधिक दिन तक नहीं चला। मनु की
 क्षुब्ध मृगया से ही नहीं हुई। अकेली कामायनी उनका परितोष नहीं कर
 सकी। मन में महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हो चुकी थी। वे जीवन की अज्ञान
 गहनता में प्रवेश करने के लिए उद्दिग्ध हुए जो आदर्श की बंधी हुई सीढ़ी
 के भीतर निषिद्ध है। वे अपनी प्रणयिनी श्रद्धा (या कामायनी) को
 छोड़कर सारस्वत देश पहुँचे। यहाँ की साम्राज्ञी इडा को एक राज्य-
 प्रबन्धक की आवश्यकता थी। मनु इस पद पर नियुक्त कर लिए गये।
 वे धीरे-धीरे सारस्वत (या बौद्ध) प्रदेश के सम्राट् बन गये। किन्तु
 साम्राज्ञी तो इडा (बुद्धि) थी, उनके लिए तो ये प्रबन्धक मात्र थे। इन्हें
 सारस्वत देश के अधिपति बनने से ही सतोष नहीं था, वे तो इडा के भी
 अधिपति बनना चाहते थे। यहाँ सघर्ष का मूवणत होना अवश्यमानी
 था।

मनु ने यह सघर्ष भी मोल लिया। जब सारस्वत देश की प्रजा
 उनको इस अनुचित आकांक्षा पर बिगड़ खड़ी हुई तब मनु ने अकेले
 उसका सामना भी किया। वे सशस्त्र उमसे सड़े, पर सब मर गये।

एक घोर तो वे बनें, दूसरी घोर प्रता उतनी—नहने मरने मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मृत्यु की अन्तिम गरिमा गिनने लगे।

जिग मनु का इतना उन्मान हुआ था, उमरा क्या इतना भी पतन हो सकता है? जिगने मुग के इतने दिन बिताये क्या वह दुग के ऐसे दिन भी देख सकता है? आरंभवादी के लिए यह एक टेढ़ा प्रश्न है, विन्नु क्याभवादी के पास इसका सीधा उत्तर है, क्यों नहीं, हम सीतामय की सीता में सब कुछ हो सकता है। उमने मानव मन का तेजा निर्माण किया है कि मुग घोर दुग, उत्थान घोर पतन उमनी एक ही शोक में आने घोर जाते हैं। य मुग-दुग, उन्मान-पतन मन की गति पर निर्भर है। मन ही तेमी ही गति है, वाग्यविज्ञता ऐसी ही है। मुग घोर दुग उन्मान घोर पतन ना माना सिवा हम मन के पीछे डोहा करने हैं।

उधर कामायनी (भद्रा) का जीवन भी भार हो गया। जिग मनु के उमरा स्थिति नहीं? अनेके पुत्र को लेकर वह गिनने दिन रह सकती थी? दुग की बहुत सी गम्भीर राने उसने राटी। अन्त में एक रात भयानक स्वप्न देखकर वह वहाँ न रह सकी। बच्चे को लेकर वह घर से निबल पड़ी और भटकती हुई बहुत दिनों बाद उमी नगर में पा पहुँची, जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े थे। वह उन्हें छोड़ती हुई अन्त में उनके पास पहुँची। मनु के मानो प्राण लोटे। उस समय का दोनों के मिलन का कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है। उस समय के अत्यन्त मनोरम पदों की कुछ बातचीत देना चाहता हूँ—

मनु की उक्ति कामायनी के प्रति—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की, और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्त जीवन यदि था, तो तुम उसमें मत्तोष बनी।

कितना है उपकार तुम्हारा, आभित मेरा प्रणय हुआ;
 कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ ।
 किन्तु अघम मैं समझ न पाया, उस मंगल की भाया बो,
 और आज भी पकड़ रहा हूँ, हृयं शोक की छाया बो ।

झटका खाकर मनु के जीवन का प्रवाह एक बार फिर उमरी धीर
 मुड़ा है जिसे वह छोड़ आया था । मनु के जीवन की यह शिखरी स्वाभा-
 विक गति है । वह फिर बहना है—

नहीं था सबा हूँ मैं जैसे, जो तुम देना चाह रही,
 क्षुद्र पाव ! तुम उससे कितनी, मधु-धारा हो ढाल रही ।
 मख बाहर होता जाता है, स्वगत उसे मैं बर न सबा;
 बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सबा ।

धीरे अपने बच्चे के लिए जिसे वह छोड़ आया था धीरे जो अद-
 विशीर हो चला है, उगने से शब्द था—

मह कुमार मेरे जीवन का, उच्च अक्ष वरदान बना !
 विनया दया प्रीति मेरा, हृदय स्नेह का जहाँ बना,
 मुझे रह, सब मुझे रहे, दस्त छोड़ी मुझ : पराधी बो !

+

+

+

भड़ा देव रही तुम मनु से, नीतर उठी जाती बो ।

किन्तु वह जोड़ी भी धीरे धीरे प्रगति न हुई । मनु का बाँझ सपना
 नहीं था जोड़ी दया न धर्म की । अन्तिम तुम को मरणाति अमृत के शिख-
 री सञ्चार मनु ने भड़ा से बना—

मे खन इस छाया के बाहर, मुझको दे न दर्ता रहने ।

+

+

+

मुझ नील मम के नीचे, या बहो मुझ से रह लेने;
 अरे शोषता हो आया हूँ, जो आदिना सह लेने ।

इस प्रकार जीवन को समझा-बोला मे दोनों मानसोदर की चीज थी। जब माता संपन्न समान बन राम गीता मे मिले सब बाकी रहा था। वह अभिन्न ही भी बाकी था। यहाँ भी अभिन्न बाकी है, किन्तु वह किन्तु हमारे ही प्रकार था। इस अभिन्न के अन्तर पर वह मानस-जीवन का अन्तर वैयर्थ दिया जाता था। हमें सामान्य का महत्त्व सुनाता है। मनु और यज्ञा गच्छी मादियों को गान करने हुए बने जा रहा था। मनु अब भी बीच-बीच में स्मरण हो उठे थे, किन्तु यज्ञा उनका गाय थी। वही ऊँचाई पर पहुँचकर मनु मे नीचे तीन बड़े-बड़े होने थे। गूछने पर यज्ञा ने बताया, मे जयराज बर्म, भार और जान के छेड़ है। मे नीला आँखें नि पृथ्वी-पृथ्वी हो गये हैं। बर्म का शेष जाना अन्तर तमोगुणी दिया देता है—

यहाँ सत्तु संपन्न, विरुद्धता, कोलाहल का यहाँ राज है;
अन्धकार में बीड़ लग रही, मजबूती यह सब सामान है।
'भाव भूमि' को दिखानी हुई यज्ञा बोली, यह साम रण की रजोमयी भूमि है। हमें—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की, पारदर्शनी मुण्ड पुतलियाँ,
चारों ओर मुरझ करती ज्यों, रूपवती रंगीन तितलियाँ।
और अन्त में जान-भूमि का सवेन करने हुए उमने कहा—

अस्ति-नास्ति का घेद निरंजुस, करते ये मनु तक युक्ति से;
ये निस्तंग किन्तु कर लेते, कुछ सम्पन्न-विधान मुक्ति से।

+

+

+

देखो ये सब सौम्य बने हैं, किन्तु संशंकित हैं दोनों से,
ये संवेत दम्भ के चलते, भू-धासन मित परितोषों से।
यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत संचित होने दो;
बस, इतना ही भाग तुम्हारा, तूया। मृया, वंचित होने दो।

सामंजस्य घटे करने थे, किन्तु विषमता फैलाते हैं;
मूल सत्व कुछ और बताते, इच्छाओं को झुठलाते हैं।

आधुनिक सन्यास-मार्ग पर यह काफी कड़ी टिप्पणी है। 'कर्म भूमि' से प्रसाद जी का आशय शरीर या भौतिक पदार्थों और 'भाव-भूमि' में तत्पर्य मन या मानसिक पदार्थों से है। ज्ञान-भूमि से प्रयोजन आत्मा या अध्यात्म तत्त्व है। ये तीनों सप्रति एक-दूसरे से पृथक् होकर पतन की अवस्था में पड़े हुए हैं। इस प्रसंग में प्रसाद जी ने बड़ी मार्मिक बातें कही हैं जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये। मनु ने उन सबको देखकर विरक्ति से मुंह फेर लिया। तब थप्पा बोली—

यही त्रिपुर है देखा तुमने, तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने;
अपने केन्द्र घने दुःख-मुख में, भिन्न हुए हैं ये सब कितने।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पुरी हो मन को;
एक-दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।

आधुनिक जीवन की यह विडम्बना प्रत्येक यथार्थवादी को बिना छटके नही रह सकती। इसी त्रिपुर (त्रिगुण या त्रैलोक्य) का दाह पुराणों में शिवजी से कराया गया है। कामायनी के कवि ने यह कार्य 'थप्पा' की मुस्वान द्वारा कराया है—

महा ज्योति रेखा-सी धनकर, थप्पा की स्मृति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा, जाग उठी यो ज्वाला जिनमें।

+

+

+

स्वप्न स्वाप जागरण भरम हो, इच्छा क्रिया ज्ञान मिल सय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में, थप्पायुत मनु बस तन्मय थे।

अपूर्व तन्मनता का यह अवसर ही मनु के ऐहिक जीवन की परम सिद्धि है। इसी शुभ अवसर पर मनु-कामायनी के पुत्र और पुत्र-वधू-

(इडा) भी एकत्र होते हैं, और यहीं उन दोनों का अभिवेक होता है।
इस प्रकार यह मानव-परम्परा चलती है।

+

+

+

यदि यह कथा मनु और कामायनी की केवल व्यक्तिगत होती और इसमें कुछ भी संकेत न होता तो भी यह कितनी परिष्कृत, स्वाभाविक तथा आधुनिक कथा थी। किन्तु यह पूर्णरूप से सांकेतिक भी है। यह आधुनिक मानवमात्र, नर-नारी मात्र की एक प्रतिनिधि कथा या जीवन का स्वरूप भी है। आज का मनुष्य मनु से भिन्न नहीं है, आज की नारी भी ही कामायनी से भिन्न हो। कामायनी सब प्रकार से मनु का उद्धार करती है। प्रसाद जी की नारी-मृष्टि मानो पुरुषों का उद्धार करने के लिए ही हुई है। इस विषय में प्रसाद जी की इतनी अडिग आस्था है कि इस सम्बन्ध में तर्क करना व्यर्थ ही होगा। यदि प्रसाद जी की मारी स्वाभाविक रचना में किसी आदर्श की ओर झुकाव है तो इसी नारी आदर्श की ओर। यही आदर्श उन्हें एक श्रेष्ठ प्रेमाख्यानक या 'रोमेन्टिक कवि' की ओर ले जाता (यद्यपि प्रसाद जी को रोमेन्टिक कवि नहीं माना जा सकता)। यह झुकाव निरा आदर्शवाद ही नहीं, इसके कुछ कारण भी हैं। प्राचीन काल में तत्कालीन धर्म में स्त्री के प्रति अनेक विवशताएँ थीं। इसी कारण से ही इसकी मुमानियत नहीं बढ़ी, किन्तु वह भी एक के मर जाने पर दूसरा विवाह तो हो ही सकता है और स्त्रियों के लिए सभी धर्मों में काफी प्रतिबन्ध रखे गये हैं। वही प्रतिबन्ध यह है कि यह अन्याय स्त्रियों के विस अपराध के दण्ड के रूप में नहीं, बल्कि स्त्री के लिए आवश्यक बनता है। किन्तु पुरुष जाति के कलक को कोई भी दलील नहीं मिला सकती। उस मारी कृतज्ञता के

बदले जो माना और नारी के उपकारों के प्रति दिखानी थी, हमने बहु-विवाह का व्रत ले लिया और उसे शास्त्र-मम्मन भी बना दिया। नारी के जिन उपकारों में मनुष्य जन्म-जन्म में निष्कृति नहीं पा सकता, उसका बदला हमने खूब चुकाया। इससे बढ़कर घोरतम पाप पुष्पों ने कोई दूसरा नहीं किया। पुष्पों के इस परम्परागत पाप का प्रायश्चित्त बबिहृदय प्रमाद जी ने इस रूप में किया है। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से नारी पुष्प की गमना की अधिकारिणी है और उसे केवल श्रद्धारूप प्रकृति करना उसकी स्पर्द्यायुक्त उन्नति में बाधक बनना भी कहा जा सकता है किन्तु कामायनी के कवि का यह आशय स्वप्न में भी नहीं है। उसे नारी की विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में—सब प्रकार से श्रेष्ठ मिष्ट करना है, साथ ही परस्पर प्रतियोगिता का भाव भी बचाए रखना है। इस दोहरी मनोवृत्ति के कारण प्रमाद जी ने कामायनी को एकदम आधुनिक नायिका नहीं बना दिया। इस सम्बन्ध में आधुनिकों को यदि कोई एतराज हो तो प्रमाद जी के पास उसके लिए कोई दवा नहीं।

आधुनिकों की ओर से एक ही आक्षेप की आजवा और की जा सकती है, वह यह कि प्रमाद जी ने बुद्धि-नस्त्व की अवधारण निन्दा की है। स्वयं बुद्धि के द्वारा अपने काव्य का उपादान जिसने इतना बलिष्ठ बनाया वह यदि बुद्धि की निन्दा करे तो यह उसकी अकृतज्ञता भी बही जा सकती है। किन्तु मेरे विचार से बात यह नहीं है। यह 'कामायनी' काव्य प्रमाद जी ने मनु या मनस्मन्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बनाया है। मनु जितनी बुद्धि का भार सहन रूप से वहन कर सकता है, अथवा जितनी अतिरिक्त बुद्धि वह संभाल सकता है उतनी ही उसे धारण करनी है। उतनी बुद्धि तो श्रद्धा में है ही। किन्तु मनु तो उनके से सन्तुष्ट नहीं हुआ और बुद्धि का अधिपति बनने का दम भरने लगा।

स्पष्ट ही उसका माया फिर गया था अन्यथा वह ऐसे दुस्माहम का काम न करता। आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है! वह मनु की शक्ति या पहुँच के बाहर बुद्धि को दीठाकर जो भयानक आविष्कार करता जा रहा है, उसका परिणाम क्या वह अभी नहीं भोग रहा, क्या इसी पद्धति पर चलने से आज निवृत्त भविष्य में ही मानवीय सम्पत्ता के विनाश की आशंका नहीं हो रही? कहावत का कोई ऐसा ही व्यक्ति जिसे जगत्-गति नहीं व्याप्त होती इसका उत्तर नकार में दे सकता है। इसलिए प्रसाद जी ने मनु या मानव शक्ति के परे बुद्धि की संबद्धता करने को बुरा बतलाया है जिम प्रकार शास्त्रकार मन्त्री ने 'महायन्त्र प्रवर्तन' अर्थात् बड़े-बड़े यन्त्र बनाने का निषेध किया था। प्रसाद जी का सदेव बुद्धि, भावना और श्रिया का समान विकास करना होने के कारण बुद्धि की एकांगी उन्नति का यहाँ भी निषेध किया गया है। यह मानना मगन न होगा कि प्रसाद जी बुद्धि के विरोधी थे, हाँ, वे बुद्धिवाद की 'अति' के विरोधी अवश्य थे।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेषण कर 'प्रसाद' जी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मानोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर सग्रह किया गया है। यह मनु और कामादनी की क्या तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामञ्जस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे बैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि में तो यह मनु-स्मृति के सहस्रो वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रयास है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तु-स्थिति से परिचय रखने वाली

जिम मर्मभेदिनी प्रवृत्ति की आवश्यकता है, वह प्रसाद जो का प्राप्त हुई है। [उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर मन और आत्मा, कर्म-भावना और बुद्धि, धर्म, अधर्म और उत्तम तत्त्वों को गुगलमन कर दिया है।] यही नहीं, उन्होंने इन तीनों का भेद मिताकर इन्हें पर्याय-वाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी है, वही आधुनिक पुण्य और नारी भी है, यही नहीं शाश्वत पुण्यत्व और नारीत्व भी वही है। [एक की साधना से सबकी साधना बन जाती है।] महाराज मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की बटार परीक्षा करने मनुस्मृति की रचना की थी। उसमें उन्होंने श्रद्धाचर्य, साहस्य, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमों की नियोजना की थी। इस आश्रम-मस्या के मूल में जो सुदृढ़ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसाद जी ने उसका काव्यमय रूप पुनः उपस्थित किया है। उसकी ओर लोका का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य में मनु, मानव या मनस्तत्त्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा सांख्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण से वैदिक तथा पौराणिक कथाओं की अनुश्रुति पर मनुस्मृति का सामयिक अनुगोलन, अनुसरण और सशोधन करते हुए आधुनिक रचि के अनुकूल नारी की महिमा का विशेष रूप में प्रकाश करने के लिए उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसलिये मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी तुलसीदास जी की इन स्मरणीय पंक्तियों से करता हूँ—

अस मानस मानस चल चाहो ।

भद्र कवि बुद्धि विमल अकाहो ॥

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखों से देखने पर प्रकट

विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसके उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम सरगना में गजाकर उसे विशृद्धित करने से बचाया गया है। आप वह सकते हैं कि यह समरगता भी अपनी सीमा-रेखाएँ बनाकर रुढ़ि का रूप धारण कर सकती है। संभव है ऐसा हो, किन्तु हम समय में कोई कवि अपने काव्य में आवश्यक सन्तुलन (Equilibrium) की नियोजना बिना किये बंसे रह सकता है। फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रुढ़ि के स्थान पर नई रुढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ ? इसके उत्तर में मैं बहूँगा कि संभव है ऐसा भी हो, किन्तु हम यह भूल नहीं सकते कि नई रुढ़ि में हमें नए जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रुढ़ि में ताने जीवन स्रोतों का अभाव ही नहीं होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओं में दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अन्तर भी कम ध्या देने योग्य नहीं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकांगी में अव्यावहारिक, निर्बल तथा हासोन्मुख रुढ़ि के स्थान पर व्यापक बहुमुखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।

कला कला के लिए

[डॉ० सोमनाथ गुप्त]

[जीवन अनुभवों की प्रयोगशाला है। हममें निरन्तर धारणाएँ बनती हैं, परिपुष्ट होती हैं और बिगड़ती भी हैं। मानव का मद्द् यत् प्रयत्न रहा है कि अपने मानसिक उद्वेलनों और निर्य अथवा अनिर्य विचारों को, यथाशक्ति, निरिबद्ध कर सके, चाहे ये सब व्यक्ति में सम्मिश्रित हो अथवा समाज या राष्ट्र में। प्रत्येक विचारधारा का प्रभाव उसके विचार की पृष्ठभूमि पर निर्भर रहता है।]

हम प्रकार के विचारों को समबद्ध करने के लिए प्रायः कुछ अथवा 'नारों' (Slogans) का आश्रय लिया जाता है और वास्तविक में ये नारे ही विचारधारा का स्थान ग्रहण कर उठते प्रतीत करने हैं। धर्म-सूत्रों और दर्शन-सूत्रों की तरह सौन्दर्य-सूत्रों का भी विकास होता है। 'कला कला के लिए' एक ऐसा ही नारा है जिसका सौधा सम्बन्ध सौन्दर्य-भावना, रचि-विशाल और वास्तव्य-कला में है। अल्प-समय कायम रह सृष्टि हमारी पृष्ठभूमि है और तत्सम्बन्धी विचारधाराओं का विकास ही हमारे महत्त्व, उपयोगिता एवं उत्थान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक सामग्री है।

'कला कला के लिए' हिन्दी अथवा संस्कृत की विचारधाराओं में उद्भूत निदान नहीं है। वास्तव में यह वास्तविक ऐंग्रेजी के 'Art for Art's Sake' का अनुवाद है और स्वयं ऐंग्रेजी की कलाओं की प्रेरणा के "L'Art pour L'Art" का रूपान्तर है। अल्प-समय कायम रहि अर्थ के दृष्टिकोण के लिए कला की विचार-सृष्टि और उसके स्वरूप को टटोलने की आवश्यकता है।

यह निर्विवाद है कि पश्चिम की दार्शनिक विचार-प्रवृत्ति का मूल स्रोत यूनान या जहाँ से सभ्यता का केन्द्र इटली या रोम की ओर गया। से वह जर्मनी पहुँचा और वहाँ से फ्रांस होना हुआ इंग्लैण्ड में प्रायः वर्षों में भी आए और 'कला कला के लिए' का नारा भारत के साहित्य में विदेश की भेंट स्वरूप ग्रहण कर लिया गया।

इस प्रकार अंग्रेजी से हिन्दी में 'कला कला के लिए' वाली बात जिस प्रकार आई, नितान्त स्पष्ट है। अंग्रेजी वालों ने इसे फ्रांस से अपनाया, जैसा कि फासीसी भाषा के रूपान्तर से स्पष्ट है। परन्तु इंग्लैण्ड में यह मिद्धान्त किमी मूल सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया गया। बल्कि विषयक अन्य नारों की तरह यह भी एक नारा था।

वान्तव में 'कला कला के लिए' ने मिद्धान्त रूप में सबसे अधिक जड़ फ्रांस में जमाई परन्तु इसके विनाश में प्रवेश करने से पहले इस जर्मनीय उद्गम पर विचार करना आवश्यक है।

'कला कला के लिए' का सम्बन्ध जर्मनी की उम सोदय-युग का धारा में है जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (सन् १७२४-१८०४ ई०) विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होकर, हीगेल (सन् १७७०-१८०४ ई०) तक जर्मनी में पलती और पोषित रही।

काण्ट ने अनुभव किया कि जीवन-साहित्य में एक ऐसे का आवश्यकता है जो प्रतिभा-सम्पन्नता, रुचि-वैचित्र्य और मुरुरता के धारणाओं को एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्त कर सके। काण्ट के पूर्वज ए० जी० बमगाटन (Baumgarten) (सन् १७१४-६२ ई०) ने सौन्दर्य-दर्शन के अनुसंधान में इसी विषय की पूर्ति के निमित्त 'Aesthetic' (सौन्दर्यपूर्ण) शब्द का प्रयोग किया था।^१ आरम्भ में

काण्ट इस शब्द से गनुष्ट नहीं थे परन्तु अन्त में उन्होंने स्वयं उस शब्द का अनेकों बार प्रयोग किया और उन्हीं से यह शब्द समस्त यूरोप में फैला। अपनी प्रसिद्ध रचना Critique of Judgment (२० का० सन् १७९०) में सौंदर्य-बोध की चर्चा करते हुए उन्होंने जो विचार प्रकट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

“अपनी इन्द्रियों द्वारा हम अपने ‘प्रिय’ तथा ‘हृत्पूज्य’ पदार्थों की पहचान करते हैं परन्तु ‘गुन्दर’ की खोज के लिए हमें सौंदर्य-परक-निर्णय (Aesthetic Judgment) की आवश्यकता होती है। यह निर्णय एक प्रकार का आनन्द है जो कलात्मक अनुभूतियों के रूपों को देखकर प्राप्त होता है। इन रूपों का मूजक कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही होता है जो अपनी स्वतंत्र कल्पना में तथा अनिप्रिता में उत्पन्न किया द्वारा इनकी व्यवस्था करता है।”

काण्ट के इन विचारों में कला, उसके महत्त्व और उसकी उपयोगिता तथा कलाकार की अवस्था पर पर्याप्त सचेत है। इनसे स्पष्ट है कि कला का सत्य आनन्द की उत्पत्ति करना है और कलाकार का कर्तव्य निलिप्त रह कर अपनी प्रतिभा में गुन्दर रूपों का निर्माण करना है। कला की सृष्टि जब अनिप्रिता के कारण होती है तभी उसे काण्ट के शब्दों में ‘उद्देश्य हीन लक्ष्य’ (Purposiveness without purpose) कहा जाता है। काण्ट के युग की यह मान्यता थी कि लक्ष्य-मिद्ध होने से कला अर्थ-हीन हो जाती है, वह अपने स्तर से गिर जाती है और इस प्रकार अपने उदात्त संदेश से विमुख पड़ जाती है। इसके विपरीत प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार अस्तव्यस्त सामग्री को भी ऐसा व्यवस्थित कर देता है कि अमूर्त भी मूर्त रूप धारण कर लेता है। इसी मूर्त एवं अमूर्त के आधार पर काण्ट ने कला का वर्गीकरण ‘ललित’ एवं ‘उपयोगी’ नाम से किया है।

सौंदर्य के विषय में काण्ट का कहना है कि शुद्ध सौंदर्य से न तो सत्य

का काम चलता है और न आचार अथवा नैतिकता का। सौंदर्य न तो सवेग (Emotion) है और न हृचिपरक संवेदन (Sensation)। वह सौंदर्य-बोध निर्णय की एक स्वतंत्र प्रिया है—इससे न कुछ अधिक है और न कुछ कम। शुद्ध सौंदर्य केवल शिष्टाचारगत (Formal) मात्र है। पदार्थ स्वयं न सुन्दर होता है और न असुन्दर। इन्द्रियाँ सौंदर्य का आरोपण करती हैं और इस आरोपण का आधार व्यक्ति या समष्टि की सौंदर्य-भावना रहती है।

काण्ट ने कला के केवल आनन्द गुण को ही स्वीकार किया है, उसे उपदेशात्मक मानने के लिए वह प्रस्तुत नहीं है। उसका मत है कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है और जो उदात्त है उसका उद्भव नैतिकता से स्वयं जन्म देगा परन्तु यदि कला का लक्ष्य उपदेशात्मक होने लगेगा तो उसके द्वारा उत्पन्न आघात (impressions) स्वतः ही तृप्त हो जायेंगे क्योंकि जब कलाकार का ध्यान उसके एक निश्चित उद्देश्य पर केन्द्रित हो जायगा तो कल्पना में गतिरोध उत्पन्न होगा और कला अपनी लक्ष्य-सिद्धि से गिर जायगी। मनुष्य की आत्मा में केवल अनुभूति ही नहीं है, उसमें कुछ ऐसी आन्तरिक भावनाएँ भी हैं जो वास्तविक पदार्थों के दर्शन से तृप्त नहीं हो पाती। कलाकार इन्हीं भावनाओं को, अपनी कल्पना द्वारा, अमूर्त से मूर्त बनाता है। उसकी तृप्ति भी इसी सृजन से होती है। काण्ट के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वह कला को सौंदर्य-बोध का परिणाम मानता था और उसका उद्देश्य कोई नैतिक उपदेश न मानकर आनन्द प्रदान करना समझता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोम के कैथोलिक गिरजाघरों (Catholic churches) में जो ईसाई मत का प्रचार हुआ उसके कारण कला को के प्रचार हेतु ही स्वीकार किया गया। यूनान के कलाकारों ने अपनी कला को जिस रूप में ढाला वे अधिकांश में आदर्श स्वस्थ मानव की

प्रतिमूर्ति के प्रतीक है। रोम के कलाकारों ने गिरजाघरों अथवा अन्य स्थानों पर जो मूर्ति-कला के सुन्दर चित्र बनाए उनमें महात्मा ईसा कुमारी मैरी और ईसा के जीवन में सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के ही चित्र हैं। माइकेल एंजेलो, राफेल आदि की कला हमी धार अलग है। सम्बन्ध धर्म के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिबिम्बों के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई। कला का उद्देश्य 'आनन्द' मान लेने के कारण कला के विचारों में हम धार की अधिक प्रशंसा दिया और यद्यपि कला ने स्वयं हम शब्द-जगत् का प्रसार नहीं किया परन्तु 'नारे' के अभाव में भी उसका अर्थ यही स्वीकृत हुआ।

कला और हेगल की मोक्ष विषयक विचारधारा का प्रभाव मनु १८१४ तक चलता रहा। उसके पश्चात् कला और मोक्ष के सम्बन्ध में नई धारणाओं का भी प्रवेश हुआ। फ्रांस के विक्टर कोसीन (Victor Cousin) इन नए विचारों के प्रवर्तक थे। उनके विचार में—

"मोक्ष एक पूर्ण अस्तित्व (An absolute idea) है। वह आत्मा प्रकृति का न अनुकरण है और न सृष्टि है। जो कुछ 'स्विकार' है वह आत्मिक सचेतना का परिणाम है परन्तु 'सुन्दर' सार्वजनिक निर्णय है। यद्यपि कला के दो पक्ष हैं—इन्द्रियों को आनन्द देना और आदर्श की आवश्यकता को पूर्ति करना। जहाँ तक सचेतना और निर्णय का सम्बन्ध है वे दोनों मोक्ष के तत्त्व हैं। मोक्ष की भावना एक निराल उदासीनता की भावना है। मोक्ष स्वयं कोई उपयोगी पदार्थ नहीं और सम्बन्ध कला-धार दर्शक की मोक्ष विषयक शुद्ध भावना को अभिव्यक्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। किसी वस्तु में साम्यविचार का धर्म हो जाना मोक्ष की भावना नहीं है। 'कला धर्म अथवा आचार के लिए मोक्ष नहीं है, वह स्विकार और उपयोग के लिए भी उसी प्रकार मोक्ष नहीं है। क्योंकि कला कोई साधन नहीं है वह स्वयं साध्य है।"

“इन्द्रियाणां के समस्त स्थाविरचित होने वाले गुरु तथा सुदृढ
 रस के लिए वातावरण प्रदान करने का प्रयोग करता है। तार्किक
 मोक्ष (Metaphysical beauty) गद्य और शृंगार के यद्यपि वे पृथक्-
 पृथक् दिशाएँ देते हैं पर मूल में बाँधता है। गद्य जब मानवी कृत्यों के
 रूप में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियवर्तिता रूपों में
 प्रकट होता है तो मोक्ष होता है।” अतएव गद्य और गुरु, गद्य की
ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। आगे चलकर बोलोनि पुन कहता है—

“जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुभूति है—तब दृष्टि एकरूप
 को ग्रहण करने में कल्पना गलतप्राय प्रदान करती है और सभी मानवी
 विवेक ज्ञानि एवं एकरूपता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप
 हैं—गद्य, गुरु और शृंगार। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा
 सकते हैं।”

“रत्न और प्रतिभा में गुरु अन्तर है। रत्न प्राकृतिक मोक्ष
(स्वभाविक) की संगतता है और प्रतिभावान आदर्श मोक्ष का मूलक।
रत्न निष्प्रिय प्रकृति है और प्रतिभा रत्निय और स्वतन्त्र कृति है। कलाएँ
 भिन्न लक्ष्यगामी नहीं, बसल उनके माधनों में अन्तर है। सभी कलाओं
 में जीव और बान का प्रयोग अवश्यम्भावी है यद्यपि प्रत्येक की अभि-
 व्यक्ति के प्रतीक पृथक्-पृथक् हैं।”

इस प्रकार कला, मोक्ष और रत्न की मूल धारणाओं में कुछ अन्तर
 आया। काण्ट और कोर्डीन के युग का भेद ऊपर के सशुद्ध विवरण
 से स्पष्ट है। परन्तु अभी तक भी ‘कला कला के लिए’ वाला
 नारा अधिक प्रयोग में नहीं आया। सन् १८२६ में जाफ़े (Jouffroy)
 ने इस शब्द-समूह को कलाओं में लागू किया और सन् १८३२ में इसका
 प्रयोग गातियेर (Gautier) एवं फोर्टोल (Fortoul) की रचनाओं में
 अधिकता से मिलने लगा।

१९वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीति एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषय परने गए दृष्टि का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bohemianism और Romanticism ऐसी ही विचारधाराएँ थी। और बना बना के लिए का गठबंधन इन्हीं दोनों विचारधाराओं के साथ हुआ।

जब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि शुद्ध बना की सामाजिक उपरदायिता क्या है? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि मूलतः का लक्ष्य केवल मूलतः का है तो यह भयानक अहंकार है। यह प्रतिनिधित्व उनके विरोध में थी जो मानते थे कि कविता स्वयं पूर्ण और स्वयं है, उसका हमारे अनिर्गुण अन्य कोई लक्ष्य नहीं, उसका जानने हमारे द्वारा प्रदत्त आनन्द है और उसका एक मात्र लक्ष्य बनना या जीवन में मायामें देखना है। गुस्ताव प्लांचे (Gustave planche) ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

“‘बना के लिए बना’ वाले मूल में केवल भूलना है अतुल्यद्वारा और कभीकाल है, बना का वास्तविक मूल सभी है जब वह भावना का परिष्कार करती है और मानव की नैतिकता को उत्तम करता है।”

अतएव ‘बना बना के लिए’ का अभिप्राय ‘रस, रस के लिए’ नहीं है बल्कि ‘रूप, सीधों के लिए’^३ हमारे अनिर्गुण हमारे सभी अभिप्राय मूल भावना के विपरीत है।

उपसंहार:

सन् १८०४ में ‘बना बना के लिए’ का प्रयोग निर्दिष्टता की सीढ़ी परक धारणा के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया था जिसका अभिप्राय, बाण्ट के शब्दों में, ‘लक्ष्य हीन लक्ष्य (purposeless without purpose) था। सन् १८१५ में बोर्गोनि (Borgoni) द्वारा राजाओं ने पुनरागमन पर बाण्ट की मोर्चेंदरक दिखानेवाली रीति में

घोर से जाती। इसके अनिरिक्त मनुष्य जब पर्वतारोहण अथवा चन्द्र-लोक-गमन जैसे ग्राह्यिक कार्यों में प्रयुक्त होता है तो भी मुमुक्षा-वृत्ति को निकाम का एक मार्ग मिल जाता है जो दूसरों के लिए ध्वंसात्मक न होने के कारण उलना भयावह नहीं होता।

आश्रमिक वृत्ति का केवल फॉरवर्ड ने ही मान्यता दी हो, ऐसी बात नहीं है। अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस वृत्ति को स्वीकार किया है। मनुष्य में पार्श्व जान वाली शीयं-भावना इसी आश्रमिक वृत्ति का समाजा-नुमोदित रूप है। पर्वतारोहण, खेल-कूद प्रतियोगिताओं में भाग लेना, चन्द्रलोक में जाना आदि इसी शीयं-भावना के रूपालंकार हैं और इसमें सम्भवन दो मत न होंगे कि शीयं-भावना की उग्रतम अभिव्यक्ति का रूप है युद्ध। यदि आश्रमिक वृत्ति का तीव्रतम रूप युद्ध है तो युद्ध का तीव्रतम रूप वह है जहाँ सिर कट जाने पर भी कवन्ध युद्ध में अपना जोहर दिखाते हैं। राजस्थान साहित्य से एक उदाहरण लीजिये—

भड़ मिण माथे जोतियो, सीलो घर त्यायोह ।

सिर भूल्यो भोलो घणो, सामू को जायोह ॥

अर्थात् युद्ध करते-करते एक योद्धा का मुण्ड धराशायी हो गया किन्तु फिर भी वह कवन्ध के रूप में लड़ता रहा और उसने सेना का सफाया कर दिया। उसका घोड़ा जब उसे गृह-द्वार पर ले गया तो इस भव्य दृश्य को देख कर उसकी पत्नी के मुँह से निकल पड़ा—मेरी सास का पुत्र भी कितना भोला है, रणागण में अपना सिर ही भूल आया।

कवन्ध-युद्ध का वर्णन केवल राजस्थानी साहित्य में ही नहीं मिलता, अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के वर्णन प्राप्य हैं। कालिदास के कुमार सम्भव से कुछ उदाहरण लीजिये—

सङ्गनिर्लूनमूर्धनि व्यापतन्तोऽपि धाजिनः ।

प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ॥ (१६।२६)

मियोर्ध्वचन्द्रनिर्वं नमूर्धानी रथिनी रुचा ।

ऐवरी भुविनृपन्ती स्ववचनधावपश्यताम् ॥ (१६-४६)

रणंगणे शोणितपंकपिच्छिन्ने कथं कथंचिन्ननुतुर्धृतायुधा ।

नदन्तु नृपेषु परेतयोपितां गणेषु गायन्तु कबन्धराजयः ॥ (१६।५०)

अर्थान् बहुत से ऐसे वीर भी थे कि शत्रु की तलवार से मिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों में नीचे गिरने थे तो गिरते-गिरते भी अपनी तलवार में शत्रु का मिर काट लिया करते थे । (१६।२६)

अर्द्ध चन्द्र बाणों में एक दूसरे का मिर काट कर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ से वे अपने उन घड़ों का खन देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे । (१६।४६)

उस युद्ध-क्षेत्र में जहाँ-तहाँ लगाटे बज रहे थे और भन-प्रेतों की श्रियाँ गीत गा रही थीं । वहाँ रण-भूमि में सड़ के कीचड़ में इतनी फिमलन हो गई थी कि बाण लिये हुए वीरों के घड़ बड़ी कठिनाई से नाच पा रहे थे । (१६।५०)

वीरगमावनार महारथि सूर्यमत्तमिश्रण की दृष्टि में इस प्रकार के योद्धाओं के पावन नाम का स्मरण भी अन्य योद्धाओं के लिए बड़ा प्रेरणाप्रद है—

बिण भार्य वाढं दसां, पोडं कर्जं उतार ।

तिज भूरा रो नाव से, भड़ बांधे तरसार ॥ १६५ ॥

(वीर सतमर्द)

अर्थान् मिर कट जाने के बाद भी जो कबन्ध रूप में युद्ध कर सेनाओं को काट डालने हैं और स्वामी के श्रृंग को चुरा कर धराशायी हो जाते हैं, उन वीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बाँधा करते हैं । जानिनाम दाग किये कबन्ध-युद्ध-धर्जन में प्रतीत होता है कि कबन्ध-युद्ध

"इन्द्रियाधानों के समय स्वतः विरसित होने वाले तर्क तथा शुद्ध रस के लिए कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करता है। तार्किक सौंदर्य (Metaphysical beauty) सत्य और शुभ को यद्यपि वे पृथक्-पृथक् दिखाई देने हैं, एक सूत्र में बाँधता है। सत्य जब मानवी कृत्यों के रूप में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियजनित रूपों में प्रकट होता है तो सौंदर्य होता है।" अतएव शुभ और सुन्दर, सत्य की ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। आगे चलकर कीर्तन पुन कहता है—

"जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुभूति है—तर्क द्वारा एतत्त्व को ग्रहण करने में कल्पना ग्राह्यता प्रदान करती है और तभी मानवी विवेक ज्ञानि एवं एकता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप हैं—सत्य, सुन्दर और शुभ। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं।"

"रवि और प्रतिभा में एक अन्तर है। रवि प्राकृतिक सौंदर्य (स्थभाविश) की गगनता है और प्रतिभावान आदर्श सौंदर्य का सूत्र। रवि निश्चिन्त है और प्रतिभा चिन्तित और व्यक्त है। कलाई भिन्न लक्षणाधीन नहीं बल्कि उनमें साधनों में अन्तर है। सभी कलाओं में चिन्तित और वात का प्रयोग अवश्यमावी है यद्यपि प्रत्येक की अभिव्यक्ति के द्वारा पृथक्-पृथक् है।"

इस प्रकार कहा, सौंदर्य और रवि की मूल धारणाओं में कुछ अन्तर आया। कला और वादों के मूल का भेद ऊपर के सविन विचार में स्पष्ट है। परन्तु अभी तक भी 'कला कला के लिए' कहा जाता अर्थात् प्रमाण में नहीं आया। मन् १८२६ में जार्ज (J. Millar) ने इस शब्द-समूह का कलाधीन म वास्तु विद्या और मन् १८३७ में इसका प्रयोग गार्डनर (Gardner) एवं फोर्स्माथ (Forsyth) की रचनाओं में अभिव्यक्ति में किया गया।

१९वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषयक अनेक नए दृष्टि का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bohemianism और Romanticism ऐसी ही विचारधाराएँ थी। और बला बला के लिए बगैरबगैर इन्हीं दोनों विचारधाराओं के माय हुआ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि शुद्ध बला की सामाजिक उपयोगिता क्या है? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि शूत्र का लक्ष्य केवल मृज्जन बने तो यह भयानक अहंकार है। यह शक्तिविदों उनके विरोध में थी जो मानते थे कि बलिता स्वयं पूर्ण और स्वतंत्र है, उसका हमारे अनिर्गुण अन्धे काई लक्ष्य नहीं, उसका बालून उसके द्वारा प्रदत्त आनन्द है और उसका एक मात्र लक्ष्य बालना या जीवन में साकार देखना है। गस्ताव प्लाण्के (Gustave planché) ने तो यही कह कर दिया कि—

“‘बला के लिए बला’ कावे मूत्र में केवल धूलका है अतृप्तकला और कमीकत्व है; बला का सामाजिक मन्थ तभी है जब वह भावना का परिणाम बनती है और मानव की नीतिबला को उन्नत करता है।”

अतएव ‘बला बला के लिए’ का अभिप्राय ‘रुद्र, रुद्र के लिए’ नहीं है बल्कि ‘रूप, मोक्ष के लिए’। इनके अतिरिक्त हमारे सभी अभिप्राय मूल भावना के विरहीन हैं।

उपसंहार :

सन् १८०४ में ‘बला बला के लिए’ का प्रयोग लिखित रूप में हो चुका था परन्तु धारणा के पर्यायवाची शब्द के रूप में बिना उद्देश्य के बिना अभिप्राय, बालर के शब्दों में, ‘बला के लिए बला’ (without purpose) का। सन् १८१३ में बालर (Balar) ने राजाओं ने पुनरागत पर बालर की नीतिबला है।

भाई । गान्नाए नाग (Rubens) के द्वारा ये विचार पेरिष्म में नाग सोरें-मिदालानो के रूप में चित्रित हुए और 'कला कला के लिए' एक नाग भी बना गया एक अन्धकार का कन्दोमूष मिदालानो भी । मन् १८२०-३० तक १८३०-३६ के बीच R. u. d. Paris' उम अन्धो-तन के मुख्य माधन रहे । मन् १८३३-३६ में सेंट ड्यो (Sainte-Buve) गया उनसे कुछ मिता न गत विचार प्रकट किए कि 'सोव' और उनके अधिपति सभी 'कला कला के लिए' मन्त्रणा के अनुयायी थे । फिर वह विचारधारा Bohemianism तथा Romanticism में भी मिल गई यद्यपि इसका अन्तिम पृष्ठ रहा ।

१९वीं शताब्दी के मध्य में वह मिदालान अपने पूर्वजों को पहूँचा और अनेक गुजर कलाकारों का अनुयायी मोदयें-बोध अन्य मिदालान बना रहा । परन्तु जिस काष्टीय विचारधारा में इसका श्रीगणेश हुआ था, वह इसमें पृष्ठ हो गई और गोटियरे (Gautier) एवं बाउदेलैरे (Baudelaire) के विचारों में घोलघोल होकर यह चलनी रही । काष्ट इस प्रकार में विचोद्यि रहे गए ।

अपना यह इतिहास लेकर 'कला, कला के लिए' मिदालान घंगरेजी साहित्य में आया । और अपने साथ यहाँ आकर इसने अनेक नारों को जन्म दिया । उदाहरणार्थ

- | | |
|------------------------------|-----------------------|
| 'Art for life's Sake' | (कला, जीवन के लिए) |
| 'Art as an escape from life' | (कला, जीवन से पलायन) |
| 'Art as an escape into life' | (कला, जीवन में पलायन) |
- आदि आदि ।

नोट : इस लेख के लिखने में मैंने Journal of Aesthetics and Art criticism की पुरानी फाइलों तथा १९५३ के जून मास में प्रकाशित जाल बिलकाक्स के लेख से सहायता ली है । अतएव श्री बिलकाक्स के लेख के लिए अनुगृहीत है ।

राजस्थानी साहित्य में शीयं-वृत्ति और उसका मनोवैज्ञानिक आधार

[डॉ० कन्हैयालाल सहस्र]

पॉपे ने दो महत्वपूर्ण वृत्तियाँ मानी हैं जिनमें से एक है जीवन-वृत्ति (Life) तथा दूसरी है मरण-वृत्ति (Death)। जीवन-वृत्ति का लक्ष्य है जीवन तथा जानि का संरक्षण। यह वृत्ति अतः घोर कामचला दानों के बापों का सम्मुख है। मरण-वृत्ति एक ध्वस्तकारक वृत्ति है जो अपने को अथवा दूसरों को मिटाने का कार्य करती है। विरोधों का नाश-पाटना, प्राण में हाथ-पैर पटकना, इस वृत्ति के लक्षण हैं। यह घोरदृष्टि इस वृत्ति को महजान अथवा प्राकृतिक नहीं मानता। अर्थात् ध्वस्तकारक आत्म सृष्टि में मोखता है।

त्रिजीविया और समर्प नामक उक्त दो वृत्तियों के प्रमाण में लताव मिटाने को भी समझ लेना आवश्यक है। कुछ वैज्ञानिक ने लताव की धारणा का अक्षेपण किया जिसके अनुसार हृदय की धारणा पर ही लताव दूर होता है। मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार से लताव की सृष्टि है। त्रिजीविया का काम यह है कि वह मनुष्य के लतावों को दूर कर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करती है किन्तु यह प्रयत्न अक्सर व्यर्थ रहता है कि सुखी के होने हुए त्रिजीविया किन प्रकार अपना काम दूर करती है। पॉपे ने इन प्रश्नों का समाधान करने हुए बताया कि सुखी स्वयं को न मिटा कर जब दूसरों पर आक्रमण करने का काम प्रारम्भ करती है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है। यदि वृत्ति दूसरों पर आक्रमण न करना हो सम्भवतः सुखी की वृत्ति उसे अपने हृदय की

घोर में जाती। इसके अतिरिक्त मनुष्य जब पंचतारोहण अथवा चन्द्र-
तोष-गमन जैसे गार्हपत्यकारी में प्रयुक्त होता है तो भी सुमुखी-वृत्ति
को निष्काश का एक मास मित जाता है जो दूसरों के लिए अंगारामय न
होने के कारण उजला भस्मावत नहीं होता।

आश्वामय वृत्ति का पंचतारोहण में ही मान्यता दी हो, ऐसी बात
नहीं है। अन्य मनोरेखागिरा ने भी इस वृत्ति को स्वीकार किया है।
मनुष्य में पाई जा। वाली शार्ङ्ग-भासना इसी आश्वामय वृत्ति का समाश्र-
न-संज्ञा स्वरूप है। पंचतारोहण, एवं कुछ प्रतियोगिताओं में भाग लेना,
चन्द्रनाक में जाना आदि इसी शार्ङ्ग-भासना के अन्तर्गत है और इसमें
सम्भवन दो मत न होंगे कि शार्ङ्ग-भासना ही उत्तमम अभिव्यक्ति का रूप
है मुद्र। यदि आश्वामय वृत्ति का तीव्रतम रूप मुद्र है तो मुद्र का तीव्रतम
रूप यह है जहाँ निरकट जाने पर भी बन्धन मुद्र में अपना जोहर दिखते
हैं। राजस्थान साहित्य में एक उदाहरण मिलिये—

भड़ घिण माथे जीतियो, लोलो पर त्यापोह ।

तिर भूल्यो भोलो धनो, सामू को जापोह ॥

अर्थात् मुद्र करने-करते एक मोड़ा हा मुण्ड धरानायो हो गया किन्तु
फिर भी वह बन्धन के रूप में लड़ना रहा और उमने सेना का सहाया
कर दिया। उसका घोड़ा जब उसे गृह-द्वार पर ले गया तो इस भव्य दृश्य
को देख कर उसकी पत्नी के मुँह में निकल पड़ा—मेरी सास का पुत्र भी
कितना भोला है, रणायण में अपना निर ही भूल आया।

बन्धन-मुद्र का वर्णन बेचन राजस्थानी साहित्य में ही नहीं मिलता,
अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के वर्णन प्राप्य हैं। कालिदास के कुमार
सम्भव से कुछ उदाहरण मिलिये—

घटपनिर्लूनमूर्धनि व्यापतन्तोऽपि वाजिनः ।

अथवा पातयामासुरसिना दारितान्तरौ ॥ (१६।२६)

मियोऽधंचन्द्रनिर्ल नमूर्धानी रयिनी रुचा ।

ऐचरी भुविनृत्यन्ती स्वकबन्धावपरयताम् ॥ (१६-४६)

रणांगणे शोणितपक्वपिच्छिले कयं कयचिन्ननृतुर्धृतायुधा ।

नरन्तु तूर्पेषु परेतयोषितां गणेषु गायन्तु कबन्धराजय ॥ (१६।५०)

अर्थात् बहुत से ऐसे धीर भी थे कि शत्रु की तलवार से मिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों में नीचे गिरते थे तो गिरते-गिरते भी अपनी तलवार से शत्रु का मिर काट लिया करते थे । (१६।२६)

जदं चन्द्र वागी में एक दूसरे का मिर काट कर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ में वे अपने उन घोड़ों का खूब देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे । (१६।४६)

उम युद्ध क्षेत्र में जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भक्त-प्रेमों की म्मियाँ गीत गा रही थीं । वहाँ रण-भूमि में लड़ के कीचड़ से इतनी पिगलन हो गई थी कि वाण लिये हुए वीरों के घड़ बड़ी बटिनार्त में नाच पा रहे थे । (१६।५०)

वीरगावनार महाकवि सूर्यमल्लमिश्रण की दृष्टि में इस प्रकार के योद्धाओं के पावन नाम का स्मरण भी अन्य योद्धाओं के लिए बड़ा प्रेरणाप्रद है—

विण मायं वाडं दत्तां, पोडं वजं उत्तार ।

तिज मूरा रो नाव ले, भड धाधे तरत्तार ॥ १६५ ॥

(वीर नतमर्द)

अर्थात् मिर कट जाने के बाद भी जो बबन्ध रूप में युद्ध कर नेताओं को काट डालने है और स्वामी के श्रुग को धुना कर धराशायी हो जाने है, उन वीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बांधा करते हैं । जातिदान द्वारा किये बबन्ध-युद्ध-वर्णन से प्रतीत होता है कि बबन्ध-युद्ध

एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि है जिसका भारतीय कवियों ने सामान्यतः प्रयोग किया है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य उक्त काव्य-रूढ़ि के रंगोचक तथा अद्भुत वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

उपर जिग शीर्ष का उल्लेख हुआ है, उसका शृंगार रस में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वर्ग की अप्सराएँ भी शूरवीर का वरण करने के लिए आतुर तथा उत्सुक रहती हैं। प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार जो शूरवीर अद्भुत पराक्रम दिग्गजा कर धराशायी होता है, वह स्वर्ग में जाकर अप्सराओं के माय विनास करता है। राजस्थानी साहित्य में 'तो अप्सरा रो आगिक' वीर का एक विशेषण ही बन गया है। जहाँ वीर 'अप्सरा रो आसिक' है, वहाँ अप्सरा भी उसका वरण करने के लिए बाट देखती रहती है—

'वरण कज अपछरा बाट जोवै छडी ।'

(हाता शाला रा कुण्डलियाँ (१६)

स्वर्ग में एक अप्सरा के लिए झगड़ते हुए दो योद्धाओं का उल्लेख कालिदास ने भी किया है—

अन्योन्यं रयिनौ कौचिद् गतप्राणौ दिवं गतौ ।

एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥

(कुमारसम्भव १६।४८)

अर्थात् दो रथ-सवार और श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरे को मार कर जब स्वर्ग में पहुँचे तब वे दोनों वहाँ एक अप्सरा के लिए आपस में लड़ाई करने लगे।

इससे स्पष्ट है कि कवन्ध-युद्ध की भाँति वीर का स्वर्ग-गमन तथा अप्सरा-प्रेम भी सामान्यतः भारतीय साहित्य में तथा विशेषतः राजस्थानी वीर साहित्य में काव्य-रूढ़ि और लोक-विश्वास के रूप में चित्रित हुआ है।

ऊपर जिस आश्रामक वृत्ति की चर्चा हुई है, वह केवल वास्तविक युद्ध के रूप में ही प्रकट नहीं होती, वास्तविक युद्ध के अभाव में भी वह अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। किसी वृत्ति का काम की निन्दा करना भी आश्रामक प्रवृत्ति का ही एक रूप माना जा सकता है। उदाहरण के लिए वीर मनमई के निम्नलिखित दोहे लीजिए जिसमें कवि ने कायर की भर्त्सना की है—

केत पधारो ठाकुरां, भरदा नैण मित्ताय ।
 फरतो-रा लीघा फिरं, धरतो-रा धन छाया ॥१०२॥
 भोला ! को डर भागियो, अन्त न पहुँचें अंण ।
 बीजी दीठा कुल ग्रह नीचा करतो नैण ॥११६॥
 पूत महा दुख पालियो, दय खोवण धण पाय ।
 एम न जाणी, आवसो जामण-दूध सजाय ॥११५॥
 कंत ! धरे किम आविया, तेगां रो घण वास ?
 सहंगे मूझ सुकोजिये, घरी रो न विसास ॥३५॥

उक्त दोहों में कही ती कवि ने स्वयम् कायर की भर्त्सना की है और कही माना तथा पत्नी के द्वारा कायर की भर्त्सना करवाई गई है। यथार्थ जगत् में कवि जब किसी पर तलवार तथा भालों आदि के द्वारा आक्रमण नहीं कर सकता, तब वह वाग्वाणों द्वारा युद्धपराक्रमुख कायरों की निन्दा करके अपनी आश्रामक वृत्ति को किसी रूप में सन्तुष्ट कर लेता है।

बन भाम्बर के मुप्रगिद्ध रचयिता महाकवि मूर्धन्य ने अपने किसी जागीरदार मित्र को लिखे पत्र में निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये थे—

“राजपूतों में जमे कभी वीरत्व की भावना देवी या मुनी जाती है, तब मन में आनन्द आ जाने का ध्यमन है। लोभ अनेक तरह के होते हैं, उनमें से राजपूत की राजपूती देखने का भी वह एक लोभ है।”

कोई योद्धा जब स्वयं दिग्गजर देग अथवा धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उगम कर देता है तो समाज उसे सम्मान की दृष्टि से देखता है तथा ईश्वर में भी उसका नाम स्वर्गाशरी में ध्वज हो जाता है। इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग आश्रमात्म्य वृत्ति को उच्छिद्यता में इश्वर-सांस्कृतिक उत्थान की धार बना देता है।

श्री गुरुमन्त्र जैसा कवि जब स्वयम् इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकता तो उस धार्मिकी धारों में ऐसे आत्मोत्सर्ग का चित्र ध्वज कर देता है जिसमें उसकी आश्रमात्म्य वृत्ति को विकास का एक ऐसा मार्ग मिल जाता है जो वृत्तियों के उदात्तीकरण का मार्ग है। युद्ध घोर बलिदान न रही। युद्ध घोर बलिदानों के भव्य वर्णनों द्वारा भी कवि आत्मोत्सर्ग घोर शौर्य-भावना की निर्मा रूप में सृष्टि कर लेता है।

इसीलिए महाकवि गुरुमन्त्र ने जहाँ कायरों की निन्दा की है, वहाँ योद्धाओं के ऐसे भव्य चित्र भी ध्वज किये हैं जिसमें कवि की शौर्य-भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कुछ दोहे सीखिये—

नहै पड़ीत कायर नरा, हेतो ! घात मुहाय ।
 बलिहारी जिण देसइ, माया भोत बिकाय ॥१६७॥
 तोरण जाता बाहर, मुणियो अजरुं बौब ।
 साधा हण सोपी सपी ! मौटं पड़यं नीब ॥२१०॥

ऊपर जिस मुमूर्षा (Thanatos) का उल्लेख किया गया है, वह फ्रायड के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण वृत्ति है जिसके बशीभूत होकर मनुष्य मरने-मारने पर उतारू हो जाता है। यह 'इरोस' अथवा सृजनावृत्ति के विपरीत है जिसका ध्वसात्मक प्रभाव मानव के व्यवहार और व्यक्तित्व में सक्षित होता रहता है।

इसी प्रकार तनाव-सिद्धान्त के अनुसार जब तक तनाव दूर नहीं होता, तब तक चैन नहीं मिलता। वीर सतसईकार ने एक ऐसे योद्धा

का वर्णन किया है जो तनाव-सिद्धान्त तथा मुमुर्क्षा, दाना का दान-सिद्धान्त प्रस्तुत करता है—

छायां धंग बजेरियो, रण रो भूषो कट ।

वेखे सालो धौद-नू, पछताय परपूठ ॥२०१॥

वर विवाहायें गसुराल पट्टेचा । इधर युद्ध छिड़ गया । वर भी युद्ध का भूषा या विन्तु साले ने उसे युद्ध में जाने में मना कर दिया जिसने वर कट गया धीरे पीछे से उसने तलवार के प्रहारों में अपने छाया का कट कर बिछेर दिया । गाथा जब युद्ध में लौट कर आया तो पीछे से बहुत पछताया कि मैंने उसे युद्ध-भूमि में जाने में क्यों रोकवा ।

इसी प्रकार आत्रामक वृत्ति के निदर्शनाय एक दूसरा विनाश उदाहरण भीत्रिये जिममे रावल पूजाजी ने बाली बीज के दिन दित्रियों पर ही बटारी का धार कर दिया था । राजस्थानी कवि के शब्दावली इसी में—

“बाजलो रमतो उजलो बटारी

बीजलो उपरा तुहिय बाहे ॥

साय घर अबर रो होय जाणे सडो

छडहो होय जाणे अडो बीज ।

बहर सरबूज रावल अडो बटारी

बीज उपर पडो दूसरो बीज ।

बादल धेरो घाउल हई बीज ॥”

दित्रियों पर उड़ बटारी बनवाई गई तो ऐसा उजल रहा सडो हो बीजलो सब पडी हो । दित्रियों यदि आरम्भ हो जाय है तो बटारी पूजाजी की बटारी छाने की आता है । दित्रियों जब दित्रियों है तो बटारी ही उजाल की छोर उजलो दित्रियों पर पडो है । सडो बीज के दित्रियों की है कि सडो पूजाजी की बटारी में पडल होकर दित्रियों बटारी में

धंस गई। श्री गुरुमन्त्रजी मिश्रण ने वीर मन्त्रगर्द में जो वीर के चित्र
 खोले हैं, उसमें कहा गया है कि शूरवीर युद्ध के बिना अन्यमनस्क-ना रहना
है, वीर स्वामी का अन्त बिना युद्ध किये वह पचा नहीं पाना तथा उसे
युद्ध का तमाशा देखना ही अच्छा लगता है—

१—दमंगल बिण दुमनो रहै। (२१)

२—दमंगल बिण अपंचो दियण, वीर धणो री धान। (१०)

३—और तमासां कायरां, पंचं नहं धव बाण।

घाय हयके भइ वरं, जिको तमासी जाण ॥१७३॥

यह तो हम नहीं कहते कि फॉपट द्वारा निरूपित मरण-वृत्ति अथवा
 थेनेटास का अस्तित्व ही नहीं है, तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है
 कि मुमूर्षा सभी व्यक्तियों में नहीं पाई जाती और न यह कोई जन्मजात
 मूलभूत वृत्ति ही है। 'हाँ, जिजीविषा अवश्य ऐसी मूलभूत वृत्ति है जो
 जन्मजात है और जिसके महत्त्व से किसी भी प्रकार इकार नहीं किया
 जा सकता। जिजीविषा इतनी प्रबल वृत्ति है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी
जीवित रहना चाहता है। अपनी मृत्यु के बाद भी कोई शाहजहाँ ताज-
महल बना कर अमर हो जाता है और कोई प्रसाद कामायनी जैसा
कालजयी महाकाव्य लिख जाता है जिस पर काल का भी बश नहीं
चलता।

ताजमहल देख कर किसी यूरोपीय महिला से जब यह पूछा गया
 कि ताजमहल उसे कैसा लगा तो उसने तुरन्त यही उत्तर दिया था कि
 यदि कोई मेरी मृत्यु पर ऐसा ही मकबरा बनवा दे तो मैं आज ही मरने के
 लिये तैयार हूँ। वीर कल्ला के लिए यह प्रसिद्ध है कि उसने अपनी मृत्यु
 से पहले ही मृत्यु का गीत सुनकर उसी प्रकार का भव्य युद्ध किया था
 जिस प्रकार के युद्ध का चित्रण गीत में हुआ था।

५—ईश और धर्म की रक्षा के लिए शूरवीर सदा से अपने प्राणों की

बाजी लगाने आये हैं किन्तु किसी आदर्श अथवा ध्येय-प्राप्ति हेतु आत्मोत्थर्ग करना उस मरण-वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आयेगा जिसका उल्लेख उपर किया जा चुका है। इस प्रकार का प्राणात्मिक तो यश रूप में अमर रहने अथवा जिजीविषा के ही अन्तर्गत आ सकता है। जो शरवीर तुच्छ मृत्यु का लोहा नहीं मानता, वही तो जीवित रहने का अधिकारी है। राजस्थान के थोड़ाछोटे ने देश और धर्म की रक्षा के लिए जो अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी, उनके पीछे अवश्य ही कोई प्रेरणामयी प्रबल भाव-धारा रही होगी।

मर्दानगी दिखलाना तथा मृत्यु का आलिंगन करके भी अपने देश को पराधीनता के पाश से मुक्त करना प्रत्येक पुरुष कहे जाने वाले व्यक्ति का परम धर्म है। ऐसा पुरुषार्थ दिखला कर ही कोई व्यक्ति अपने पुरुष नाम को सार्थक कर सकता है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि तनवार, भालो तथा घनुष-बाणों को लड़ाई द्वारा ही शौर्य की अभिव्यक्ति नहीं होनी युग-परिवर्तन के साथ-साथ शौर्य के प्रकारों में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। गांधी-युग में यद्यपि लड़ाई का प्रकार बदल गया था तथापि अहिंसक शूरवीरों द्वारा जो शौर्य दिखलाया गया, उसकी पावन गाथा भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अंकित है।

जिमी भी बुराई में लडकर उस पर विजय प्राप्त करने में मनुष्य के आत्म-गम्मान और गौरव में वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि शौर्य और आत्म-गरिमा तथा आत्म-गम्मान परस्पर संबद्ध हैं। किन्तु इसमें भी बढ कर यदि यह कहा जाय कि शौर्य और मानवीयता में खोबी-दामन का सम्बन्ध होना चाहिये तो भी कुछ अनर्चित न होगा। मन-साहित्य में भी शौर्य का स्तवन हुआ है जिसमें इसकी महिमा और भी बढ जाती है। शौर्य जहाँ मानवीयता में बाधक हो, वहाँ वह प्रमत्तचित्त

के रूप में ही हमारे सामने आयेगा। राजस्थानी साहित्य में शौर्य के साथ-साथ प्रतिशोध लेने का भी जो चित्रण किया गया है, वह वाछनीय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए—

“दोयणां हत माटीपणो दाखज्यो
उधारो मती राखज्यो आंटो।”

इतना ही नहीं, राजस्थानी साहित्य में कुल-क्रमागत बदला लेने की भावना का भी जिन शब्दों में उल्लेख हुआ है, वह मध्ययुग में जैसी भी रही हो, आज तो उसे त्याज्य ही ठहराना चाहिये। आज के राजनीतिक नेता यदि व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर देश-हित को ठुकराने लगे तो यह सर्वथा अनुचित होगा।

इसलिए युगानुरूप राजस्थानी शौर्य-भावना में भी वाछनीय परिवर्तन होना चाहिए। शौर्य-भावना वस्तुतः बड़ी उदात्त भावना है, वह मानवता और मानवीयता के दिव्य भावों से संपृक्त है तथा मनुष्य की सकांक्षता से ऊपर उठाकर उस दिव्य भव्य लोक में पहुँचा देता है जहाँ किसी उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए मृत्यु को भी ‘मरण-स्वोहार’ के रूप में मनाया जाता है। ऐसे भव्य चित्र राजस्थानी साहित्य में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं और उनसे प्रत्येक युग प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा।

पाँचवे दशक की शुरुआत

डा. माधवजीराव

[illegible]

१० दिनांक २००८ ई. में १००० + १००० =

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

[illegible]

लेकिन आदर्शवादी दृष्टिकोण ने उन समस्या को तिर के बल देगा और मनोवैज्ञानिक निदान तथा समाधान प्रस्तुत किया। पन्न जी का व्यक्तिवाद आरम्भ में ही प्रकृति-गमण की रूमानियन के माध्यम से व्यक्त होना रहा, इसलिए इस सन्नान्तियुग में भी उनमें मानवीन्मुख प्रतिक्रिया हुई। 'गुन्दर हैं विहग गुमन गुन्दर मानव'। तुम सबसे गुन्दरतम'। 'इसी परिवर्तन को उन दिनों लोगों ने यथायं की स्वीकृति मानी। बारीकी में देखने पर ये 'मानव' और 'जीवन' शब्द भी यन्तुन अस्पष्ट, हवाई तथा आदर्शवादी लगेंगे। पन्न जी का आरम्भिक प्रकृति-प्रेम ऊपर में देखने पर मानव-निरपेक्ष भले ही रहा हो, परन्तु वास्तव में वह रोमैण्टिक वैयक्तिकता की भावना से रेंगा था। वस्तुतः प्रकृति समार का ही एक अंग है और उसकी सुपमा सम्बन्धी सपूर्ण मान्यताएँ समाज की समामादिक मान्यताओं से सम्बद्ध रहती हैं। इसीलिए जब 'युगान्त' में पन्न जी प्रकृति में मानव की ओर आये तो वस्तुतः वे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से कुछ सामूहिकता की ओर मुड़े या उसकी आकाक्षा से भर उठे। 'पल्लव' और 'ग्राम्या' के प्रकृति चित्रणों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

निराला और महादेवी में यह प्रतिक्रिया अधिक वैयक्तिक स्तर पर हुई क्योंकि आरम्भ से ही इन दोनों अहवादी प्रतिभाओं में व्यक्तित्व का उभार अधिक था। इनका 'अह' विरोधी शक्तियों से जितना ही टकराता गया, स्वर में उतनी ही उग्रता, स्पष्टता, निराशा तथा एकाकीपन घना होता गया। जिसके लिए 'दुख ही जीवन की कथा रही' उसने यदि यह अनुभव किया कि

मैं अकेला

देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की साध्य बेला

तो कोई आकस्मिक बात नहीं। हाँ, स्वानुभूति के कारण यथार्थ की पकड़ इतनी दृढ़ है कि हवाई मानव प्रेम अथवा दिखावटी समाजोन्मुखता की

आवश्यकता नहीं। घोर वैयक्तिक होने हुए भी निराला का स्वर सर्वाधिक विद्रोही, स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रहा है। महादेवी जी में आरम्भिक भावाकुलता में भिन्न बौद्धिक अवगाद तथा उद्बोधन की भावना जाग उठी।

इस व्यक्तिवाद ने एक ओर तो अपना विरोध किया और दूसरी ओर दलित जन पर करुणा करने की प्रवृत्ति दिखनाकर अपनी सामाजिकता का परिचय दिया। निराला और पत दोनो ही महाकवियों ने ऊँचे में सहानुभूति बिखेरी; परन्तु निराला ने यह भी कहा—

महज-महज पग धर आओ उतर

देखें वे सभी तुम्हे पथ पर।

रुमानी कविता के व्यक्तिवाद तथा तज्जन्य असन्तोष, निराशा और निषेधवाद की स्पष्टतर और तीव्रतर अभिव्यक्ति बच्चन और नरेन्द्र ने की; क्योंकि ये इसी सत्रांति-युग की उपज थे। यहाँ भी नरेन्द्र में अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिकता अधिक थी तथा बच्चन में वैयक्तिकता। 'सपथ से टूटा हुआ' बच्चन का कवि 'अग्निपथ' पर अध्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ मनुष्य की ओर भी दृष्टि डालता है।

व्यक्तिवादी सामाजिकता का एक और रूप अराजकतावादी विप्लव के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें 'उयलपुयल मचाने वाली तान' के कवि 'नवीन', 'दिनाशकारी यादल' के गायक भगवतीचरण वर्मा तथा 'विषयगात्राणि' की हुंकार भरने वाले 'दिनकर' मुख्य हैं। यहाँ भी दलितों के प्रति कभी-कभी दूरस्थ सहानुभूति दिखाई पड़ती है। वर्मा जी की बहुप्रशंसित प्रगतिशील रचना 'मैंसा गाडी' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार दस दशक के आरम्भ में कवि के सामने सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न अपूर्ण रूप में खड़ा हुआ और कवि ने व्यक्तित्व के समाजीकरण की आवश्यकता अनुभव की। रोमानी युग के बाद यह दयापंचाद का आरम्भ था।

विषय-वस्तु के साथ-साथ रूप-रस में भी परिवर्तन हुआ। कल्याण-धर्म, विजय-मोह, शत्रु-मोह, पंखवाता, कोरी भावुकता, साहित्य-नुहासा, साधनिक यंत्रणा आदि साज-सज्जा जानी रही। तथ्यरूपन, धरापन, विचारागमन प्रोढ़ता, गाम्भी और गफाई, मुक्त छंद का निर्बाध प्रवाह, भाषा में गद्यात्मक व्यवहारिकता आदि बातों का समावेश हुआ।

यहना न होगा कि कविता का यह वस्तुगत रूप-परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर ही था। मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में सफट उपस्थित हो गया था, स्त्री-मुग्ध के सबध, मानव-प्रकृति के सम्बन्ध तथा स्वयं मानव-समाज के भीतर अन्तर्बैयक्तिक सम्बन्ध, मध्यवर्गीय हास की छून से विपाक्त हो उठे थे। आधिक समस्याएँ सभी मान्यताओं से उभर कर स्पष्ट दिग्राई पड़ने लगी थीं। जागरूक जन मार्सवादी जीवन दर्शन के उदार मानवतावाद को नैतिक आस्था के रूप में मानने लगे थे। '४० से आरम्भ होने वाली नयी कविता में सबसे ऊँचा स्वर इसी नैतिकता का था और 'ग्राम्या' उसकी पहली पोथी बनकर सामने आई। आधुनिक हिन्दी कविता में यह यथार्थवाद की ओर पहला सजीव प्रयत्न था। एक ओर ग्राम-प्रकृति की अब तक उपेक्षित सुषमा का मुग्ध भ्रंजन, ग्रामीणजनों के हर्ष-उल्लासपरक नृत्यों की जीवत भावना तथा नाद-चेतना का चित्रण, ग्राम-युवती के अकृत्रिम स्वस्थ मासल सौंदर्य की प्रशंसा तथा दूसरी ओर रुढ़ि-जर्जर गाँवों की प्रणामों पर प्रहार—ग्राम देवता की भर्त्सना, पतिगृह जाने वाली ग्रामवधू की नकली रलाई का उपहास—और इन सबके ऊपर साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वारा ध्वस्त गाँवों की आर्थिक हीनता का मार्मिक उद्घाटन, ये सभी बातें कवि की जागरूक दृष्टि तथा व्यापक सहानुभूति का पता देती हैं। 'ग्राम्या' में नागरिक जीवन का भी चित्रण है और मध्यवर्गीय रोगों पर तेज रोशनी डाली गई है। 'आधुनिका' और 'स्वीट के प्रति' जैसी कविताएँ शहराती महिलाओं की कृत्रिम और रग्न शोभा साथ-साथ उनके अस्वस्थ यौन सम्बन्धों की भी भर्त्सना करती हैं,

१. लेकिन यह 'भय-मानवता' के लिए प्रभु—गमात्र की रिमी अस्पष्ट आन्तरिक जगि व प्रतीक—के निरुद्ध प्राची है ।

इस सामाजिक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति 'निराला' जी में दूसरे स्तर पर हुई । गणपति में अह की पराजय ने उसके मन को अत्यन्त दुःख और विक्षिप्त कर दिया, एकाकी सिद्धांत मण्डित और व्यथित के रूप में बदल गया । निराला जी व पत जी की अंशता यथार्थ की अनुभूति अधिक नित्री और सीधी रही, लेकिन गणपति और व्यथितता कम थी । वेमे, आदर्श-वाद तथा अज्ञान जगि का भरोसा यहाँ भी उनका ही था । पत जी सामाजिक यथार्थ में भी तटस्थ दौड़ने है, निराला जन-जन की लगी ; आगे में 'कर्म' आत्मी भी जन-जनतर' की कामना करते हैं । व्यथित को स्पष्ट होता ही पड़ता है और निराला जी ने सामन्ती तथा साम्राज्यवादी मान्यताओं पर बहुत स्पष्ट प्रहार किए हैं, लेकिन आरम्भ में यहाँ भी स्पष्टता न थी । 'बुद्धिमुक्ता' द्वारा 'वैपटिनिष्ट गुणाव' का उग्र विरोध तथा अपनी महानता का उद्घोष करने के बाद भी उसे उपयोगितावाद का शिकार बनाया जाता है । 'नये पने' की 'मुक्ता भोजने लगा', 'महँगू महंगा रहा' आदि कविताएँ निश्चय ही बहुत आगे बढ़कर विमानों और मजदूरों की विवशता तथा जागरण को स्पष्ट शब्दों में कहती हैं । गजलों में कही-कही बिलकुल सीधी चोट की गई है—

पुला भेद विजयी कहाये हुए जो

सह दुमरे का पिये जा रहे हैं ।

लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि जिस निराला ने कविता को 'बहु-जीवन की छवि' कहा था, उन्होंने इस युग में जीवन की विविध अर्थ-भूमियों, गहरी अनुभूतियों तथा मानव और प्रकृति-सम्बन्धी भर्म-छवियों की समृद्धि का परिचय नहीं दिया जो पत जी की 'भ्राम्या' में कुछ हद तक प्राप्त होता है । केवल 'देवी सरस्वती' कविता इसका अपवाद है, जिसमें सांस्कृतिक

उतर कर भगी मैं हरे संत पहुँचो
 वहाँ गेहूँभो में तहर खूब मारी
 पहर-रोनहर का अनेकों प्रहर तक. . .

दरई मोती का भी विजन है, परन्तु यहाँ ग्राम्या की तरह कोरी सहायुभूति नहीं है। बनि रुखिबड 'चित्रकूट के बौद्धम यात्रियों' की मोठी धुस्की भी सेता है; धेनु, चन्द्र, रत्निमा की भी दुर्बलताओं पर तेज रोशनी डालता है। उसके लिए प्राचीन जन देवता नहीं हैं बल्कि मानव हैं और वे भी अपने सभे। इसलिए वह उनकी अध पूजा न करके कटु आलोचना करता है। वह मजदूर की शराब-खोरी और शहरी छोकरो की आबारागर्दी को भी भर्त्सना करता है। केदार के व्यग्य में निराला की सी विक्षिप्तता नहीं, बल्कि बहोर सोहेय्यता तथा संयम है। समूचे व्यग्य को जनता की विजन का अडिग विश्वास, मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है। ऐसे स्थलों पर स्वर में अद्भुत दृढ़ता आ जाती है—

घन गरजे जन गरजे
 बन्दी सागर को लख कातर
 एक रोष से
 घन गरजे जन गरजे
 क्षिति की छाती को लख जंजर
 एक शोष से
 घन गरजे जन गरजे !

केदार में पुराना आदर्शवाद नहीं मिलता। कुल मिलाकर उनमें वह जीवन की छवियाँ, अभिव्यक्ति के सीधे और व्यग्यगर्भी विधान, चित्र विधान का साधव तथा भावानुकूल नूतन संगीत-सृष्टि बड़े ही सहज ढंग से एकता मिल जाती है।

की निर्वैयक्तिकता से भिन्न प्रकार की निजी पीड़ा और बठोरता
 की कविताएँ आयी। मिथिला के ठेठ गाँवों की मिट्टी

मे निपटा हुआ यह 'घरती' देश-दशान्तर का अनभवा और दृश्यों में उनका मूक्त हो उठा है कि सामाजिक चेतना उसकी मरम्भनी में जनता स्थापित हो उठी—वही व्यंग्य की तित्त बोझार का बड़ी रचना के मार्मिक उन्म, वही गैबर्ड प्रकृति के यथार्थ चित्र, तो बड़ी शारीर दृग का उदयान । भाषा भी तदनुषंग—कही प्राजलता तो बड़ी ठेठ बाल-बाल । छन्द याज्ञना की बेगवरी धारा में नाटकीय विधान घटित होना चलता है । हम रूप विज्ञान में बेदारनाथ का-भा तराश का नही मिलता नकिन मार्मिकता अधि मिलती है, स्पष्टता और खरापन शायद मध्यम अधि । उनकी रचनाओं में ऐसी सहज आत्मीयता तथा ईमानदारी का लक्ष्य मरी रहती है जो रूप विधान के भारे अनगढ़पन का ढँब कर मीठा राग करती है ।

त्रिलोचन की 'घरती' ('४४ ई०) में सामाजिक चेतना का उभार बेदार और नागार्जुन का-सा तो नही मिलता, नकिन परम्परा रही है किममें मूलतः एक किसान कवि का हृदय बालता है । गैबर्ड प्रकृति का बड़ा ही स्वस्थ उभार 'घरती' में हुआ है और ग्राम जीवन के अनक उलंभ चित्र दिये गये हैं—

तारको से ज्योति चल कर भूमि तन पर
आ रही है आ रही है आ रही है
× × ×
है धोंधेरी रात कल है व्याह का दिन
दीपको से गाँव का एकान्त अमलिन
जागती हैं नारियाँ

आज अपने गीत से वे नारको को है जगाती ।

'बग्गा', 'बूआ', 'भोरई बेबट' आदि सामाजिक दृराड्यों के माध्यम से साम्यविक्ता मृत्तिमान हो उठी है । आगे चलकर, ५० में उनका 'मानेदो' में ग्राम-जीवन का यह यथार्थ और गाढा हो उठा । त्रिलोचन की 'घरती' का

उतर कर भगी मैं हरे भेंट पहुँची
 यहाँ गेहूँभों में सहार खूब मारी
 पहर-दोपहर क्या अनेको प्रहर तरु. . . .

गेयर्दे लोगों का भी चित्रण है, परन्तु यहाँ ग्राम्या की तरह कोरी सहानुभूति नहीं है। कवि रुद्रिबद्ध 'चित्रकूट के वीरम यात्रियों' की मीठी घुटकी भी सेता है; चँनू, चन्द्रू, रनिया की भी दुर्वनताओं पर तेज रोगनी डालता है। उसके लिए ग्रामीण जन देवता नहीं हैं बल्कि मानव हैं और वे भी अपने सगे। इसलिए वह उनकी अध पूजा न करके कटु आलोचना करता है। यह मजदूर की शराब-खोरी और शहरी छोरुओं की आवागमनी की भी भत्सना करता है। केदार के व्यंग्य में निराला की सी विशिष्टता नहीं, बल्कि कठोर सोद्देश्यता तथा मयम है। समूचे व्यंग्य को जनता की विजय का अडिग विश्वास, मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है। ऐसे स्थलों पर स्वर में अद्भुत दृढ़ता आ जाती है—

घन गरजे जन गरजे
 बन्दी सागर को लख कातर
 एक रोष से
 घन गरजे जन गरजे
 क्षिति की छाती को लख जर्जर
 एक शोध से
 घन गरजे जन गरजे !

केदार में पुराना आदर्शवाद नहीं मिलता। कुल मिलाकर उनमें बहु जीवन की छवियाँ, अभिव्यक्ति के सीधे और व्यायगर्भी विधान, चित्र विधान का लाभ तथा भावानुकूल नूतन संगीत-सृष्टि बड़े ही सहज ढंग से एकत्र मिल जाती है।

केदार की निर्व्यक्तिकता से भिन्न प्रकार की निजी पीड़ा और कठोरता को लेकर नागार्जुन की कविताएँ आयी। मिथिला के ठेठ गाँवों की मिट्टी

क्रमशः 'जीवन की लौ' के रूप में प्रज्ज्वलित हुई जिसमें मध्यवर्गीय समाज का खोखलापन उभारकर दिखाया गया। हरिव्यास के निःश्रेष्ठ व्यक्तित्व ने प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र तथा त्रिमिक आस्था के तेजोदृप्त गीत लिखे हैं। समीक्षकों द्वारा उपेक्षित तथा अकाल ही धरती से उठ जाने वाले कवि वर्त्मान की प्रतिभा ने अनेक जौहर दिखलाए। विषय-वैविध्य तथा रूप-वैभिन्य की दृष्टि से उन्होंने अनेक सफल रचनाएँ उपस्थित की और उस रूमानी छाया की सीमा में भी अद्भुत सामाजिक चेतना का परिचय दिया।

अन्य कवियों में से नेमिचन्द्र में शैथिल्य तथा एकाकीपन का मार्मिक विपाद गहरा है। उनकी निराशा का कारण 'तिरस्कृत व्यक्तित्व', 'जन की कुठितधार' तथा जीवन-शक्तियों से सहयोग न कर सकने की अक्षमता है। समाज की इस शक्ति को उन्होंने अस्पष्ट रूप से 'विविध गतिमय प्राण-मय सचरित तत्त्व' नाम से ही स्मरण किया है। भारतभूषण में गत्यात्मक सामाजिक चेतना है, परन्तु बौद्धिक है, उनके ग्रथिहीन सादे मन में जहाँ स्वस्थ सौन्दर्य-दर्शन, व्यंग्य-बोझार या अपनी विवश तरलता का बोध है, वहाँ वे विशेष सफल हैं। प्रभाकर माचवे की कविता में यद्यपि अनुभूति की गहराई कम मिलती है तथा रूप विधान में अनमना कौतुक है, तथापि उनके हाथ व्यंग्यात्मक रेखाकन तथा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक मँजे हैं। भारती में जवानी की मिठास और रूप-रस के प्रति आसक्ति है तो रघुवीर सहाय में असमय वार्धक्य का प्रतीक बौद्धिक शुष्कता और जीवन से विरक्ति। समीतगर्भी प्रयोगों की झीनी खूबमूरती में बकी हुई सामाजिक चेतना के कवि शमशेर ने नयी कविता को संभवतः सबसे अधिक स्वर-सपन्न बनाया है, उनके चित्र-विधान में बारीकी तथा शब्दों में अत्यधिक मितव्ययिता अथवा अर्थ की दुरुहता है। उन्होंने अपनी उर्द कविताओं में अवश्य ही स्पष्ट बाँरपना भर दिया

है। इन नामों के साथ इनके मधर्मा कुछ और नये नाम जुड़ते हैं जिनमें सर्वेश्वर, केदारनाथ मिह, अजित तथा सूर्यप्रताप के नाम मुख्य हैं।

इस युग की सीमा में 'अज्ञेय' की 'इत्यथम्' के उत्तरार्द्ध तथा 'हरी घास पर हाथ भर' की कविताएँ आती हैं। 'इत्यथम्' के उत्तरार्द्ध की अधिकांश कविताएँ समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों और यौन-वर्जनाओं का आभक्तिपूर्ण तथा उत्साह-भरा चित्र उपस्थित करती हैं। लेकिन 'हरी घास पर हाथ भर' में आते-आते वे सामाजिक चेतना का महसूस समझने लगते हैं 'अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवाग दूगरा'। वे अपनी 'अह अन्तर्गुहावामी स्वरति' आदि सीमाओं को स्वीकार करने हैं और ईमानदारी के साथ। इस ईमानदारी तथा लाचारी ने इस मग्न की कविताओं में कुछ स्पष्टता तथा तन्मय गीतात्मकता भर दी है। इसमें महसूसवेदनजन्य अनुभूति की कोमलता प्रधान तथा बुद्धि की लज्जित गीत है।

सामाजिक चेतना के इस तृतीय स्तर को प्रायः प्रयोगशील कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है। नाम को लेकर यहाँ कोई विशेष मगड़ा नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि इन कवियों ने 'प्रयोग-आकाशा' तथा 'रूप-विधान' पर इतना अधिक बल दिया है कि उक्त कवियों की कतिपय रचनाएँ रूपवादी अथवा प्रयोगवादी ही उठी हैं। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, इन कवियों में प्रायः सबकी रचनाएँ हृदयानुसृत मध्यवर्गीय मान्यताओं की चौहद्दी में घिरी हैं, खरिपत इतनी ही है कि इनमें से अधिकांश उस सीमा को तोड़ने के लिए आतुर हैं। हृदयानुसृत मान्यता की इन कविताओं का भी अपना मोन्दर्य है तथा अपनी मन्द-धीनता है, विशेषतः प्रकृति और प्रणय-सम्बन्धी अनुभूतियाँ अधिक मोहक और मधुर हैं।

इस युग में कुछ ऐसी भी कविताएँ हुई हैं जिन्हें 'नव नृत्यार'।

की गंगा दी जा सकती है। पुगने आदर्शवादी कवियों में जिन्होंने निम्न यग के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रकट की थी, परन्तु उनका मूल मनोजगत व्यक्तित्वादी और आदर्शवादी था, उन्होंने नये रहस्य तोरु की शरण ली। श्री सुमित्रानन्दन पन्ना, निराला, नरेन्द्र शर्मा, नवीन, भगुनतीचरण वर्मा आदि कवियों का प्रयाग इधर इसी ओर हुआ है। यहाँ नूतन रहस्यवाद छायावादी युग की रोमैण्टिक रहस्य-भावना से भिन्न है, क्योंकि इसमें उत्थानशील मध्यवर्गीय व्यक्ति की आशा-आकांक्षाओं तथा कल्पनाशीलता का वह स्वस्थ मोहन नहीं है। उस रहस्य-भावना में बार-बार 'प्रभु' का आश्रय नहीं लिया जाता था। वह चेतन-मत्ता समाज की अन्तर्निहित शक्ति थी जो उस 'युगधर्म' का संचालन कर रही थी। इस 'नूतन रहस्यवाद' में वह गामय्य तो नहीं है किन्तु उदार मानवतावाद अवश्य है जो मध्यवर्गीय कुण्डाग्रस्त कविताओं से श्रेयस्कर प्रतीत होता है। इस 'नूतन रहस्यवाद' में भी स्तर-भेद हैं। नवीन जी में यह गैदान्तिक तथा नैराश्यमूलक है, पन जी में 'विराट मानवता' का विमान तानता है, 'निराला' को 'अर्चना' का रहस्यवाद यथार्थ की पीड़ा से सिक्त है; नरेन्द्र की रहस्यभावना लोकाश्रयी है।

इसके अतिरिक्त बच्चन, शम्भुनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, हमकुमार तिवारी आदि गीतों के राजकुमार भी रचनारत रह। ठाकुर प्रसाद सिंह के मौलिक से प्रतीत होने वाले संभाली गीतों के अनुवाद इसी कोटि में आएँगे। इन कविताओं में मुख्यतः यथार्थ चित्रण से भिन्न भाव-कल्पित सुख-दुःख का रोमानी चित्रण मिलता है, परन्तु युग के अनुरूप कुछ-कुछ सामाजिक चेतना भी आई है।

इस प्रकार पिछले दशक में हिन्दी कविता में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ रही हैं—सामाजिक यथार्थवाद, रूपवाद तथा नूतन रहस्यवाद। अनेक कवियों में एकाधिक प्रवृत्तियाँ एक-साथ मिलती हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें आरम्भ में एक प्रवृत्ति प्रधान थी, परन्तु धीरे-धीरे दूसरी प्रधान हो

गई। विभिन्न वर्गों के सम्कारों और मान्यताओं वाले समाज में इस प्रकार की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है, परन्तु यह निम्नोक्त कहा जा सकता है कि इस दशक में सामाजिक यथार्थवाद की कविता परिस्थितियों के साथ क्रमशः प्रौढ़, मानवोचित और जीवन मीन्द्रण से परिपूर्ण होती गई। भविष्य इसी कविता के हाथ है, यह सभी अनुभव कर रहे हैं। रूपवादी कवियों ने इसे अनगढ़, कलाहीन, आश्लेष-पूर्ण तथा एकांगी कहा है, लेकिन यह उनकी मध्यवर्गीय दृष्टि की सीमा का परिणाम है। इन कविताओं में अनगढ़पन हो सकता है और बहुत सम्भव है वह कवि की असावधानी अथवा शक्ति की सीमा के कारण हो, परन्तु रूपवादियों की इस समीक्षा के पीछे जो उद्देश्य है वह श्रमिक-वर्ग की मान्यताओं तथा रचनाओं के प्रति सहस्रवेदनहीन है। प्रश्न यह है कि विकास के बीज किस कविता में हैं? रूपवादी रचनाओं में कुछ सफल, सुन्दर, आकर्षक और मोहक प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन उनमें वह जीवनी शक्ति नहीं है जो बहुजन को स्पन्दित कर सके। कुछ रूपवादी कवियों ने अपना जन-प्रेम प्रदर्शित करने के लिए लोकगीतों को भी घुने अपनाई हैं तथा कुछ ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु यह अपनाव नहीं बल्कि चेतना को अलग करके शरीर का अग्रहरण है। लोक-काव्य रचने के लिए लोकगीतों की धुन तथा शब्द अपनाना ही काफी नहीं है; देखना यह है कि वे लोकगीत किस ऐतिहासिक भूमिका के हैं। लोकगीतों का भी भावरूप में विकास होना है और आज के कवि के लिए आवश्यक है कि वह अपने समसामयिक लोक-काव्य में प्रेरणा लें। लेकिन देखा तो यह जा रहा है कि शिष्ट कवि ब्याह-गादी, मेला-छेला, झुला-चमड़ी, बिरहा आदि पुराने लोकगीतों को ही अपनाकर निहाल हो रहे हैं। लोक-जीवन तथा काव्य के प्रति यह रुमानी दृष्टिकोण है।]

निस्रदेह सामाजिक यथार्थवाद की गम्भीर कविता लोक-काव्य से ही उत्पन्न और विकसित होगी, लेकिन लोक-काव्य के रचयिताओं को इस योग्य बनाने के लिए वर्तमान मध्यवर्गीय कवि जनशिक्षार्थ काव्य की रचना करते रहेंगे। निस्रदेह इन दश वर्षों में जागरूक कवियों ने इस दिशा में यथाशक्ति परिश्रम किया है।]

इस अवधि में कुछ कवियों ने कविता का समृद्ध बनाने के लिए नवीन अर्थ-व्यजना वाले कुछ नये शब्दों का प्रयोग किया है तथा पुराने शब्दों में नयी अर्थ-व्यजना भरी है। परन्तु शब्द-भण्डार की दृष्टि से समृद्ध होती हुई भी इस प्रकार की रचनाएँ सीमित और दरिद्र हैं, क्योंकि ये प्रयोग ही सार्वजनिक मूल्यों वाले शब्दों से रिक्त हैं। दूसरे शब्दों में इनकी दरिद्रता का कारण इनके पाठकों की सीमा है।

यही दशा छन्दोविधान की बहुलता के विषय में है। नये-नये स्वरों का उपयोग करने अथवा खड़ी हिन्दी की लय में अँगरेजी ढंग का स्वर-पात, बलाघात देने से ही कविता समृद्ध नहीं होती। यदि यही बात होती तो केशव की 'रामचन्द्रिका' तुलसी के 'रामचरितमानस' से बहुमान पाती। मध्यवर्गीय अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान रूपवादी कवियों ने छन्दोविध्य का बहुत ध्यान रखा है। इस प्रयोग का भी मूल्यांकन पाठकों की सीमा के ही अनुसार होगा।

इसी प्रकार इस युग की कविता में आधुनिक अँगरेजी वाक्य-विन्यास की 'पैरेन्थीसिस', कोष्ठक, भावानुकूल विरामचिह्न, ध्वनि प्रतीक-योजना, दिवास्वप्न विधान, फ्री एसोसिएशन आदि के जो प्रयोग किए गए उनका मूल्यांकन उस मध्यवर्गीय विषय-वस्तु की ध्यान में रखकर ही किया जायगा।

इन समस्त असंगतियों के बावजूद पिछले दशक की कविता के विषय में ये तीन बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं—

१—कविता में वष्यं विस्तार तथा अधर्मात्मा का प्रभाव हुआ। यदि मायाकोप्याकी से मन्द नेवर बहे तो—

आज हमारे रंग की हुई बूँची मरब
घोर बँनवग हुई पाक गिनियो खोगहे।

२—यही हिन्दी में खोंब-बट के अनुकूल प्रज्ञा आई। १९४१ ई० मज़ूर बरिनियो में उठी हुई लाजी बरुची भाषा मीजा की अन्तर्गत बरिनियो में मोज़ गई। भाषा में धारीकी के साथ एक नया धात्र आया।

३—इस युग की कविता में सामाजिक उत्तरदायित्व का विचार प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में व्यक्तित्व अभिव्यक्ति दिया। दूसरे सामाजिक-वाद की सीमाएँ तथा असंगतियाँ समाज की सीमाएँ तथा असंगतियाँ हैं। मैक्सिम कविता का प्रधान स्वर मानव-जन्म की स्पष्ट दिशा का स्पष्टीकरण रहा।

इस प्रकार इन दस बर्षों की कविता हिन्दी कविता की महान् मान्यतावादी परम्परा की युग की आवश्यकता के अनुसार आई बरिनियो है।

शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक : नैतिक मूल्यों की समस्या

[डा० रामबिलास शर्मा]

शेक्सपियर ने उन युग में जन्म लिया था जो यूरोप में पुनर्जागरण (रिनेसेंस) के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह नवजागरण का युग था जब यूरोप में नई जातियों का अभ्युदय हुआ; पुराने सामन्ती सम्बन्धों के बदले समाज में नये मानव-सम्बन्ध कायम हुए। यह पूँजीवाद का अभ्युदय काल था। अंगरेजों में नई जातीय चेतना फैली, उन्होंने अपनी भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व विकास किया। अंगरेज आलोचक टिल-याडें ने मध्यकालीन इंग्लैण्ड और इस नवजागरण के युग में अनेक समान-ताएँ दिखलाई हैं। फिर भी इस प्रचलित धारणा की सच्चाई खडित नहीं होती कि यह नवीन युग मध्यकालीन परम्परा से मूलतः भिन्न था। ब्रैडले ने ठीक लिखा है कि शेक्सपियर के नाटक परलोक-चिन्तन से भिन्न मनुष्य के लौकिक जीवन को केन्द्र बनाकर रचे गये हैं। शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह स्वीकृत दृष्टिकोण इस बात का प्रमाण है कि यह नया युग मध्यकालीन परम्परा से भिन्न था और यह भी कि इस नये इहलोक-वादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि कलाकार शेक्सपियर हैं।

शेक्सपियर नये युग के प्रतिनिधि साहित्यकार थे, साथ ही वह प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के भूयवान् नैतिक तत्त्वों के रक्षक भी थे। उनके साहित्य में इंग्लैण्ड की लोक-संस्कृति को ही नया जीवनदान नहीं मिला वरन् यूनान की प्राचीन संस्कृति की अमिट छाप भी उस साहित्य पर है। शेक्सपियर के लिए प्रसिद्ध है कि उनकी प्रतिभा प्रकृति की सहज

देन थी, उन्हें मैटिन बहुत कम आती थी और ग्रीक उगम भी कम। इस प्रेरित धारणा के कारण शेक्सपियर और यूनानी नाट्यकारों के समय पर कम ध्यान दिया गया है। साधारणतः यूनानी नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनमें मनुष्य बर्मे करने में स्वतन्त्र न होकर निर्वासित के हाथों में घोलता है। शेक्सपियर में मनुष्य बर्मे करने में स्वतन्त्र है और इसलिए अपने बर्मे से अपना भाग्य स्वयं रचता है। इस धारणा में आशिव सत्य अवश्य है किन्तु यह सत्य आशिव ही है।

पाँचवीं शती ईसा पूर्व में इस्त्रिलस ने प्रोमीथियस के सम्बन्ध में अपने नाटक रचे थे। 'परतन्त्र प्रोमीथियस' में नाटक की समस्या रिमीथस सम्बन्धी की हत्या अथवा परिवार के रिमीथस सम्बन्धी में अविश्व प्रेम सम्बन्ध नहीं है। इस तरह की समस्याएँ अनेक यूनानी नाटकों में मिलती हैं जिसका कारण रक्त सम्बन्ध पर आधारित प्राचीन समाज के गर्व व्यवस्था की घोर सश्रमण था। इस्त्रिलस के प्रोमीथियस की मर्त्य का कारण उत्तम मानव प्रेम है। उसने देवताओं के अतिशक्ति की कक्षा करने मनुष्य की सहायता की है। उसके अभिमान को तोड़ने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाते हैं किन्तु यह अपनी आत्मा पर प्रतिष्ठित रहता है। उसके हृदय में मानव जाति के लिए असाह्य भावना है यद्यपि देवताओं के अतिशक्ति के हृदय में उसके लिए भावना नहीं है। उसके मनुष्य के हृदय में आकाश का बीज बो दिया है और इसे वह अपनी बहुत बड़ी सहायता मानता है। उसने जो कुछ किया, वह रिमिति के कारण नहीं बल्कि 'संस्कृति में, अपनी आँखों में आसी परिष्कार को देखने हुए।' प्रोमीथियस मानव-व्यक्त के लिए आकाशवाणी देव-अतिशक्ति में गहरे धारणा कर है।

रक्त के सम्बन्ध में यह धारणा शेक्सपियर की भी है। जूनियरी की के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक समाजवाद के विचार के साथ यह गर्व धारणा प्रेरित हुई कि इस्त्रिलस के निर्वासित समाजवाद में है। किन्तु

दृष्टिकोण और शेक्सपियर दोनों ही के युगों में इस धारणा से साहित्य-
 कार परिचित न थे। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में इतिहास
 के निर्माता साधारण जन नहीं हैं वरन् कुछ विशेष गुणों वाले वीर हैं।
 शेक्सपियर ने 'जूलियस सीजर' में ब्रूटस को ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित
 किया है। ब्रूटस के शत्रु भी उसकी मृत्यु के बाद स्वीकार करते हैं कि
 उसने जो कुछ किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। उसके
 शत्रु अधिक चतुर थे, साथ ही वे सिद्धान्तहीन स्वार्थसेवी भी थे।
 ब्रूटस को सत्ता की आकांक्षी नहीं है, उन्हें है। वह अपने आदर्श पर
 अडिग रहता है और विजय के लिए अनैतिक उपायों से काम लेना अस्वी-
 कार करता है। इसलिए वह पराजित होता है किन्तु उसकी यह पराजय
 ही उसकी विजय है। उसकी मृत्यु उसके प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाती
 है। अन्य नाटकों में शेक्सपियर ने लोकहित की समस्या को इसी रूप
 में नहीं लिया किन्तु इस समस्या के प्रति उसके अनेक नायक सचेत अवश्य
 हैं। हैमलेट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समय अव्यवस्थित हो गया
 है किन्तु वह उसे व्यवस्थित करने में अपने को अक्षम पाता है।
 'कोरिओलानस' और 'जूलियस सीजर' में शेक्सपियर ने जनता को
 राजनीतिक क्षेत्र में चंचल, असावधान और दूसरों के कहने में आ जाने
 वाली दिखाताया है। जनता शिक्षित होकर अपने ऊपर स्वयं शासन
 करने लगे, यह अत्यन्त कठिन कर्म है। आज भी यह लक्ष्य पूरी तरह
 सिद्ध नहीं हुआ। शेक्सपियर ने यथार्थ-चित्रण ही किया है। फिर भी
 यह उल्लेखनीय है कि उनके नाटकों के खलनायक जनता से त्रस्त रहते
 हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जनता से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं।
 हैमलेट के शत्रु क्लौडियस ने अपने भाई की हत्या की है और उसकी
 पत्नी से विवाह कर लिया है। हैमलेट से उसे भय है और वह उसे विदेश
 भेजने की योजना बनाता है। वह हैमलेट को देश में खुले घूमने
 न छूट नहीं देना चाहता क्योंकि "चंचल-चित्त जनता उसे प्यार करती

है।" 'किंगलियर' में अन्धा ग्लोस्टर जहाँ-जहाँ घूमकर नियर की क्रूर सहकियों के प्रति जनता का रोष जाग्रत करता है। रीगन कहती है "हमने बड़ी मूर्खता की जो ग्लोस्टर की आँखें निकालने के बाद उसे जीना रहने दिया। जहाँ भी वह जाता है, वह सभी को हमारे विरुद्ध आन्दोलित कर देता है।"

शेक्सपियर ने हस्विलम की तरह ऐसे वीर चित्रित किए जिनके हृदय में मनुष्य के लिए करुणा है। इससे भी अधिक यह कि प्रोमीथियस की तरह वे आँखें खोलकर स्वेच्छा से कार्य करने वाले वीर हैं, किसी नियति के हाथ में कठपुतलियाँ नहीं। किन्तु शेक्सपियर में नियतिवाद का नितान्त अभाव भी नहीं है। "मैकबेथ" में देवी अथवा अर्द्धदेवी शक्तियों को मैकबेथ का भविष्य पहले ही मालूम है। यद्यपि मैकबेथ कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी यह स्पष्ट है कि एक प्रकार से उसका भाग्य पहले ही निश्चित हो चुका है। अनेक नाटकों में प्राकृतिक उपल-पुषल मानो यह सवेन करती है कि मानव-जीवन की घटनाएँ उन उपल-पुषल में भी प्रभावित हैं। इससे अनिरस्त शेक्सपियर के अनेक पात्र अपनी उक्तियों से बराबर नियति की याद दिलाते हैं। ईमार्ड ग्रंथ द्वारा प्रचारित पाप-पुण्य की भावना और स्वर्ग-नरक की धारणा से यह नियतिवाद बिलकुल भिन्न है। वह यूनानी नाट्यकारों के नियतिवाद का ही नया मस्तरण है। देवता क्रूर हैं और वे अपने विनोद के लिए मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस धारणा को शेक्सपियर ने अपने पात्रों द्वारा स्थगित कराया है। फिर भी कृत्त मिनाबर यूनानी नाटकों की अपेक्षा शेक्सपियर में नियतिवाद कम है, अपने नाटकों में स्वतन्त्र बना मानव के बिना कोई शेक्सपियर ने अधिक बिबकिन और परिष्कृत किया है।

यूनानी नाटकों में निबट के रत्न-जम्बुकी की हाना क्षुब्ध बड़े रूप के रूप में चित्रित की गई है। शेक्सपियर के युग में इस तरह का रूप कोई मुख्य सामाजिक समस्या न थी; फिर भी यूनानी नाटकों के प्रभाव से उनके

इस्किनस और शेक्सपियर दोनों ही के युगों में इस धारणा से साहित्य-कार परिचित न थे। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में इतिहास के निर्माता साधारण जन नहीं हैं बल्कि कुछ विशेष गुणों वाले वीर हैं। शेक्सपियर ने 'जूलियस सीज़र' में ब्रूटस को ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित किया है। ब्रूटस के शत्रु भी उसकी मृत्यु के बाद स्वीकार करते हैं कि उसने जो कुछ किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। उसके शत्रु अधिक चतुर थे, साथ ही वे सिद्धान्तहीन स्वार्थसेवी भी थे। ब्रूटस को सत्ता की आकांक्षी नहीं है, उन्हें है। वह अपने आदर्श पर अडिग रहता है और विजय के लिए अनैतिक उपायों से काम लेना असवी-कार करता है। इसलिए वह पराजित होता है किन्तु उसकी यह पराजय ही उसकी विजय है। उसकी मृत्यु उसके प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाती है। अन्य नाटकों में शेक्सपियर ने लोकहित की समस्या को इसी रूप में नहीं लिया किन्तु इस समस्या के प्रति उसके अनेक नायक सचेत अवगत हैं। हैमलेट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समय अव्यवस्थित हो गया है किन्तु वह उसे व्यवस्थित करने में अपने को अक्षम पाता है। 'कोरिन्थोमनस' और 'जूलियस सीज़र' में शेक्सपियर ने जनता को राजनीतिक क्षेत्र में सचल, असावधान और दूसरों के कहने में आ जाने वाली दिखाया है। जनता शिक्षित होकर अपने ऊपर स्वयं शासन करने लगे, यह अत्यन्त कठिन कर्म है। आज भी यह सत्य पूरी तरह सिद्ध नहीं हुआ। शेक्सपियर ने यथार्थ-चित्रण ही किया है। फिर भी यह उन्नेद्यनीय है कि उनके नाटकों के छावनायक जनता में सतत रहते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जनता में दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। हैमलेट के शत्रु क्लौडियस ने अपने भाई की हत्या की है और उसी पानी में बिनाह कर लिया है। हैमलेट ने उसे भय है और वह उसे विदेश भेजने की योजना बनाता है। वह हैमलेट को देश में लूटे घुमने की छुट्टी नहीं देना चाहता क्योंकि "बकन-बिल जनता उसे प्यार करती"

है। "किमनियर" में अन्धा ग्लोस्टर जहाँ-जहाँ घूमकर नियर की क्रूर मदरियों के प्रति जनता का रोप जाग्रत करता है। रीगन कहती है "हमने बड़ी मूर्खता की जो ग्लोस्टर की आँखें निवालन के बाद उसे जीता रहने दिया। जहाँ भी वह जाता है, वह सभी का हमारे विरुद्ध आन्दोलन कर देता है।"

शेक्सपियर ने दृष्टिस्तम की तरह ऐसे वीर चित्रित किये जिनके हृदय में मनुष्य के लिए करुणा है। इससे भी अधिक यह कि प्रोमीथियस की तरह वे आँखें खोलकर स्वेच्छा से कार्य करने वाले वीर हैं, किसी नियति के हाथ में बटगुतलियाँ नहीं। किन्तु शेक्सपियर में नियतिवाद का निरान्त अभाव भी नहीं है। "मैकबेथ" में दैवी अथवा अर्द्धदैवी शक्तियों को मैकबेथ का भविष्य पहले ही मालूम है। यद्यपि मैकबेथ कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी यह स्पष्ट है कि एक प्रकार से उसका भाग्य पहले ही निश्चित हो चुका है। अनेक नाटकों में प्राकृतिक उपल-गुण मानो यह सचेत करती है कि मानव-जीवन की घटनाएँ उस सघन-गुथल में भी प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के अनेक पात्र अपनी उक्तियों से बराबर नियति की याद दिलाने हैं। ईसाई धर्म द्वारा प्रचारित पाप-गुण्य की भावना और स्वर्ग-नरक की धारणा से यह नियतिवाद बिल्कुल भिन्न है। वह यूनानी नाटककारों के नियतिवाद का ही नया संस्करण है। देवता क्रूर हैं और वे अपने विनोद के लिए मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस धारणा को शेक्सपियर ने अपने पात्रों द्वारा व्यक्त कराया है। फिर भी कुल मिलाकर यूनानी नाटकों की अपेक्षा शेक्सपियर में नियतिवाद कम है, अपने नाटकों में स्वतन्त्र वर्तमान मानव के चित्र को शेक्सपियर ने अधिक विकसित और परिष्कृत किया है।

यूनानी नाटकों में निबट के रक्त-गम्बन्धी की हत्या के रूप में चित्रित की गई है। शेक्सपियर के मुख्य सामाजिक

नाटको में यह समस्या भी जहाँ-तहाँ उभर कर आई है। उदाहरण के लिये “हैमलेट” में क्लौडियस अपने भाई का हत्यारा है। किसी यूनानी नाटक के पात्र की तरह उसे अपना जीवन अभिशप्त दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करना चाहता है लेकिन उसके हाथ नहीं उठते। मैकबेथ डकन की हत्या करता है जो राजा होनेके अतिरिक्त उसका रक्त सम्बन्धी भी है। क्लौडियस को लगता है कि उसके हाथों से भाई का रक्त छूट नहीं सकता, उसी तरह मैकबेथ को लगता है कि समुद्र का जल भले ताल हो जाय, उसके हाथों का रक्त छूट नहीं सकता। मैकबेथ अनेक हत्याएँ करता है लेकिन उसके घोर पश्चात्ताप होता है डकन की हत्या से ही। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि यह एक रक्तसम्बन्धी की हत्या है। मैकबेथ का पश्चात्ताप उन यूनानी वीरों की याद दिलाता है जो जान या अनजान में इस तरह की हत्या करके पश्चात्ताप करते हैं। ‘किंग लियर’ में इस तरह के रक्तसम्बन्धी की हत्या तो नहीं है किन्तु एडमण्ड अपने पिता ग्लोस्टर और रीगन तथा गेनिरिस अपने पिता लियर की मृत्यु चाहती अवश्य हैं।

यूरीपिदिस के नाटक ‘अलसेस्टिस’ की कथा सावित्री-मृत्युवान की कथा से मिलती-जुलती है। अलसेस्टिस स्वेच्छा से मृत्यु को वरण करके अपने पति को प्राणदान दिलाती है। हरकुतिस मृत्यु से युद्ध करके अलसेस्टिस को वापस लाकर उसे पति को सौंप देता है। एंगेलस ने जिस व्यक्तिगत प्रेम को यूरोप-नवजागरण का एक महान् नैतिक मूल्य माना था, उसकी चरम अभिव्यक्ति यूरीपिदिस के इस मर्मस्पर्शी नाटक में हुई है। अलसेस्टिस के पति का विलाप पढ़कर ‘रघुवश’ में श्नुमती के लिए विलाप याद आ जाता है। शेक्सपियर की पोशिया, ओफीलिया, डेस्डमोना आदि नारी-यात्र उसी उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना करती हैं जिसकी साकार प्रतिमा अलसेस्टिस है। उसके विपरीत इस्किलस की क्लितेमेनेस्ट्रा है जो अपने पति को हत्या करती है और यूरीपिदिस की

मोदिआ है जो अपने पति से प्रतिशोध लेने के लिए अपने पुत्रों की हत्या करती है। इनकी छाया लेडी मैक्बेथ पर पड़ी है जो हत्या के लिए अपने पति को उकसाती है यद्यपि उमका मा मानसिक उद्वेग बिलेतनेस्त्रा और मोदिआ में नहीं है। यूनानी नाटककारों की इन रक्तरजिता देवियों में एक तरह की गरिमा है जो शेक्सपियर ने लेडी मैक्बेथ जैसे पात्रों को प्रदान की है।

इन सबसे यही सिद्ध होता है कि शेक्सपियर ने यरोप की प्राचीन मासृतिक परम्परा के अनेक तत्वों को ग्रहण किया है। फिर भी उनके दुष्प्रान्त नाटकों की समस्याएँ और उनके चित्रण की पद्धति एक नये युग की देन है। 'घोपेन्को' में शेक्सपियर ने प्रेम और ईर्ष्या की मधुरता को है जिसका दायरा 'हैमलेट' या 'विंग तियर' की ओरशा मरुचित है। घोपेन्को ने अपने से भिन्न गौरवण की नारी हेरिडमोना से विवाह किया है। दआगो उगवे हृदय में सन्देह और ईर्ष्या की आग प्रज्ज्वलित कर देता है और वह क्षुब्ध होकर हेरिडमोना की हत्या कर डालता है। दआगो—घोपेन्को से अधिक—इस नाटक को अपने युग की प्रतिनिधि रचना बनाता है। दआगो में मेधा है, आत्मविश्वास और आत्मनिश्चय है, नैतिक मूल्यों के प्रति पूर्ण उदासीनता है, दूसरों को ठगने या पीछा देने में उसे बलात्मक आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह के नैतिकानुल्य, पूर्ण रूप से नृणम पात्र यूरोप-नवजागरण की विशेषता थे। स्वायं-नृणता के विरुद्ध नैतिक भावनाओं का पूर्ण त्याग अनेक विचारकों का गूना मिडान्त था। उपनिवेश बनाने वाले दम्प और दासों के निर्दय व्यवहारों ने नृणमिडान्त को व्यवहार में लाते थे। 'घोपेन्को' में यही नृण-नृण के सर्वप्रथम प्रेम की मधुरता का चित्र है, यही दआगो की इस अर्न्त-नृणम का समर्थ चित्रण भी है। जिसने मानो सर्वोच्च के अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट चित्रण सचित्र कर दिया गया है।

मैक्बेथ दआगो की अर्न्त नैतिक भावना में पूर्ण रूप से अन्तर्गत है—

नाटकों में यह समस्या भी जहाँ-तहाँ उभर कर आई है। उदाहरण के लिये "हेमलेट" में क्लौडियस अपने भाई का हत्यारा है। किसी यूनानी नाटक के पात्र की तरह उसे अपना जीवन अभिशप्त दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करना चाहता है लेकिन उसके हाथ नहीं उठते। मैकबेथ डंकन की हत्या करता है जो राजा होनेके अतिरिक्त उसका रक्त सम्बन्धी भी है। क्लौडियस को लगता है कि उसके हाथों से भाई का रक्त छूट नहीं सकता, उसी तरह मैकबेथ को लगता है कि समुद्र का जल भले लाल हो जाय, उसके हाथों का रक्त छूट नहीं सकता। मैकबेथ अनेक हत्याएँ करता है लेकिन उसके घोर पश्चात्ताप होता है डंकन की हत्या से ही। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि यह एक रक्तसम्बन्धी की हत्या है। मैकबेथ का पश्चात्ताप उन यूनानी वीरों की याद दिलाता है जो जान या अनजान में इस तरह की हत्या करके पश्चात्ताप करते हैं। 'किंग लियर' में इस तरह के रक्तसम्बन्धी की हत्या तो नहीं है किन्तु एडमण्ड अपने पिता ग्लोस्टर और रीगन तथा गेनिरिल अपने पिता लियर की मृत्यु चाहती अवश्य है।

यूरीपिडिस के नाटक 'अलसेस्टिस' की कथा सावित्री-सत्यवान की कथा से मिलती-जुलती है। अलसेस्टिस स्वेच्छा से मृत्यु को वरण करके अपने पति को प्राणदान दिलाती है। हरकुलिस मृत्यु से युद्ध करके अलसेस्टिस को वापस लाकर उसे पति को सौंप देता है। एंगेलस ने जिस व्यक्तिगत प्रेम को यूरोप-नवजागरण का एक महान् नैतिक मूल्य माना था, उसकी चरम अभिव्यक्ति यूरीपिडिस के इस मर्मस्पर्शी नाटक में हुई है। अलसेस्टिस के पति का विलाप पढ़कर 'रघुवंश' में इन्दुमती के लिए विलाप याद आ जाता है। शेक्सपियर की पोशिया, ओफीलिया, डेस्डमोना आदि नारी-पात्र उसी उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना करती हैं जिसकी साकार प्रतिमा अलसेस्टिस है। उसके विपरीत इस्कलग की क्लिटेमनेस्त्रा है जो अपने पति की हत्या करती है और यूरीपिडिस की

हैमलेट कहता है कि यह बात बस-जे-बस हेनमार्च के लिए मही है।
 वचन और बर्मे का अन्तर शेषमण्डिर के लिए महान् अनैतिकता है और
 इसलिए वह राजा के मुगाहियों पर व्यग्य करने का कोई भी अवसर हाथ
 में नहीं जाने देता। पोनीनियम राजा का मही है। वह बेहद बातूनी है
 यद्यपि यह मानता है कि जोरदार बात गंधोप में ही की जा सकती है।
 अपने गुरुविन अभिजात वर्गीय वातावरण में वह जो भी धारणा बना
 नेता है, उसे हरिण की लड़की की तरह पकड़े रहता है। हैमलेट उसकी
 लड़की घोरीनिया में प्रेम करता है किन्तु इस प्रेम का उमके लिए कोई
 मूल्य नहीं है। वह हैमलेट को साधारण बामुक नवयुवक समझकर
 घोरीनिया पर दबाव डालता है कि उसमें सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।
 बाद में हैमलेट के मानसिक विक्षोभ का कारण जानने के लिए वह कहता
 है, 'मैं उमके सामने अपनी लड़की छोड़ दूँगा' मानो कबूतर के सामने
 चारा डाल रहा हो।

पोनीनियम के मुँह में ईमानदारी का शब्द सुनकर हैमलेट कहता है,
 "जैसी दुनिया है, उगमे ईमानदार होने का मतलब है, हजार आदमियों
 में सिमी एक को ढूँढ़ निकालना।" वह पोनीनियम में बुद्धि और साहस के
 अभाव पर व्यग्य करता है। उसे चेतावनी देता है कि अपनी लड़की को
 स्वच्छन्द न घुमने दे, वरना मृत पशुओं में कुमिकीटो की तरह वह भी गर्भ
 धारण कर लेगी। हैमलेट के लिए उगका देश और मारा सप्तर एक
 बन्दीगृह के समान है। उसे लगता है कि धरती अनुवंरा है; नशत्रमडित
 आवाश दूषित वायुमण्डल मात्र है, बुद्धि और बर्मे में थोड़ा मानव मिट्टी
 का पुतला भर है। उसे न पुरुष की सगति में आनन्द आता है, न नारी
 की सगति में। पोनीनियम अभिनेताओं से उचित व्यवहार का आश्वासन
 देता है तो हैमलेट कहता है, यदि हर व्यक्ति के साथ 'उचित' व्यवहार
 किया जाय तो कौन है जो दण्ड से बच सके? उसे जीवन की सार्थकता
 में ही गन्देह हो जाता है। मनुष्य मृत्यु को धरण करके दम मगार की

गिद्धि करना चाहता है किन्तु इसमें सफल नहीं हो पाता। तेडी मैकवेथ उसके मामने जो आदर्श रखती है, वह बहुत कुछ इसी जैसा है। मैकवेथ में उसका मानवीय अन्तःकरण बार-बार उसे हत्या की हत्या से रोकता है और हत्या के बाद वह घोर पश्चात्ताप में पीड़ित होता है। उसे मृत दंडन से ईर्ष्या होने लगती है कि वह जीवन की समस्त व्यथाओं से मुक्त होकर निश्चिन्त निद्रा का आनन्द ले रहा है। मैकवेथ शेक्सपियर के अन्य दुर्ग्रन्थ नाटकों के वीरों से काफी भिन्न है। वह अन्य वीरों की तरह निष्पाप नहीं है, वह अपराधी है, फिर भी उसकी नैतिक दुविधा और पश्चात्ताप उसकी ग्नायि और वेदना से उसके प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करता है। यहाँ वह नैतिक मूल्य स्पष्ट है जिसके लिए शेक्सपियर ने आकर्षण उत्पन्न किया है। मैकवेथ वीर इसलिए नहीं है कि राज्य के लिए उसने एक रक्तसम्बन्धी की हत्या की है, बल्कि इसलिए कि उसकी नैतिक भावना ने उसे बार-बार ऐसा करने से रोका और आगे चलकर उसके लिए नींद भी दुर्लभ कर दी।

मैकवेथ ने जैसे राज्य के लिए हत्या की, वैसे ही 'हैमलेट' में क्लौडियस ने राज्य के लिए अपने भाई की हत्या की। नाटक में राज्य प्राप्ति का उद्देश्य गौण है, मुख्य उद्देश्य भाई की पत्नी प्राप्त करना है। मैकवेथ की तरह स्वजन की हत्या से उसे भी पश्चात्ताप होता है किन्तु यह नाटक का मुख्य विषय नहीं है। मुख्य विषय हैमलेट के मन पर उसकी माता के व्यवहार की प्रतिक्रिया है। मानव-जीवन और मानव-सम्बन्धों से उसकी आस्था टूट जाती है और वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। 'हैमलेट' मानव-सम्बन्धों और नैतिक मूल्यों पर एक विस्तृत टिप्पणी बन जाता है।

अपने पिता के प्रेत से जब हैमलेट को मालूम होता है कि उसकी हत्या की गई है तो एक ओर अपनी माँ को कोसता है, दूसरी ओर क्लौडियस को। क्लौडियस का व्यवहार देखकर वह यह निष्कर्ष निकालता है कि मनुष्य सदा मुस्कराता रहे, फिर भी वह महानीच हो सकता है।

जिस संसार में हैमनेट रहता है, उसमें पुराने नैतिक मूल्य टूट रहे हैं। शेक्सपियर के दुखान्त नाटकों का मूल सूत्र यही है। पुराने मूल्य गल्ट हो रहे हैं किन्तु नये मूल्य दृढ़ता में उनका स्थान नहीं ले रहे। मैक्बेथ में पुराने सामन्ती की राजभक्ति नहीं है, नये जनतन्त्र की भावना उसमें जायज नहीं हुई। थोपेलो निर्दोष प्रेम की उत्कट अभिलाषा करता है किन्तु यह स्वयं ईर्ष्या होकर अपनी पत्नी के विरुद्ध प्रवास में विश्वास कर लेता है। ह्यूटम अपने देश को निरबुज मत्ता में मुक्त करना चाहता है किन्तु उसकी आदर्शप्रियता अध्यावहारिक गिड़ होनी है और उसका मुख्य कारण ह्यूटम का धर्म नहीं, जनता की अशिष्टता है। मार्ग ने १८४८ में अभ्युदयशील पुँजीपति वर्ग के लिए लिखा था, "जहाँ भी पुँजीपति वर्ग विजयी हुआ है, उसने सभी सामन्ती, निम्नजात और दादापयी सम्बन्धों को खत्म कर दिया है। उसने निर्दयता में विविध सामन्ती सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है जिनमें मनुष्य अपने से 'महा श्रेष्ठ जनो' से बंधा हुआ था। मनुष्यों के बीच उसने नए स्वाध, निर्मम 'आर्थिक लेनदेन' के अनुरित और बोर्ड सम्बन्ध नहीं रखा। उसने आर्थिक आदेश के स्वार्थिक आनन्द को मध्यस्थीन मान-माझान के उन्मत्त को तथा बोरी भावना को स्वाधंसय धनोत्पत्ति की योजनाओं के नीचे जल में डुबो दिया है।" यह विपरीत होता हुआ प्राचीन जल्ल पुगी लच्छ केवर्गियर की स्वतन्त्रता में प्रतिबिम्बित हुआ है।

शेक्सपियर के लिए मनुष्य-सम्बन्धों को विद्वान् बनने वाले दो मुख्य कारण हैं : प्रेम के बदले अनिर्दिष्ट और अस्मिता के बदले धन की प्रतिष्ठा। अपनी एक मॉरल में सामन्तिक व्यवस्था में लुप्त होकर यह मनु-वामता बनने है। वह देखने है कि मनुष्य किसे के प्रति सचेत रहने की इच्छा करते अपनी इच्छा को दबे ? निर्दोष प्रेम धन के प्रतिष्ठा हो जाता है और "अस्मिता बने के कारण धन और लुप्त जाती है।" के बने हैमनेट के जाने केवर्गियर में स्वतन्त्र बनने है या स्वतन्त्र

व्यथाओं में मुक्त क्यों न हो जाय । मनुष्य अपने गमन की प्रवारणा क्यों गढ़े ? अत्याचारी का अन्नाय, समष्टि में भूने हुए पुरुषों की घृणा, मत्स्य प्रेम का मृत्यु न दर्शने जाने की वेदना, स्वायत्तान्ति में बाधा, वसाधितारियों की अनिष्टता, अयोग्य व्यक्तियों द्वारा धैर्यगानी घांघ्य व्यक्तियों का अपमान—यह सब यह क्यों गढ़े, यदि मृत्यु में मनुष्य को सदा के लिए शान्ति मिल गये ? मृत्यु के बाद भी शान्ति न मिली तो मनुष्य क्या करेगा, मानो इस भय से हैमलेट आत्महत्या नहीं करता ।

‘हैमलेट’ साधारण प्रतिज्ञाओं की बंधा नहीं है । उसके लिए एक घोर बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई है । यदि मानव-सम्बन्ध टूटने गहिरे हैं तो मनुष्य जीकर क्या करे ? मानव-जीवन की मार्गरणा क्या है ? हैमलेट के पाग इस समस्या का समाधान नहीं है किन्तु उसकी शरण घोर मन्देह मानव-सम्बन्धों की जपत्यता की तीव्र आलोचना है । वह आरम्भ ही में कहता है, “यह स्थूल शरीर भोग-मग्न की तरह विगलित हो जाय । ईश्वर ने आत्महत्या का निषेध न किया होता तो कितना अच्छा होता !” उसे सामाजिक व्यवहार मिथ्या, नीरस घोर निरर्थक मालूम होता है । समार उग उठान की तरह है जिसमें जगली घासपात छा गये हैं । उसे सभी स्त्रियाँ चंचल घोर अस्थिर प्रेमवाली लगती हैं । उसके पिता की मृत्यु को एक महीना भी नहीं बीता कि उसकी माता ने क्लीडियम को घर लिया । पिता के प्रति हैमलेट की भक्ति माता के प्रति उसके हृदय को घृणा में भर देती है । उसे लगता है कि मनुष्य जब पतित होता है तब वह पशुओं को भी पीछे छोड़ देता है । पशु भी अपने प्रिय की मृत्यु के लिए उसकी माँ से अधिक शोक प्रकट करते । अपनी एक सौनेट में शेक्सपियर ने लिखा है, तिली फूल जब सड़ते हैं तब उनकी दुर्गन्ध सड़ते हुए जगली घासपात से भी भयानक मालूम होती है । हैमलेट अपने माता-पिता से स्नेह करता था, उनकी बातों को सत्य मानता था । उसके स्नेह के स्रोत में विष धोल दिया गया है । मानव-सम्बन्धों से उसकी आस्था उठ सी जाती है ।

जिग सगार में हैमलेट रहता है, उगमें पुगने नैतिक मूल्य टूट रहे हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों का मूल सूत्र यही है। पुराने मूल्य गल्ट हो रहे हैं किन्तु नये मूल्य दृढ़ता से उनका स्थान नहीं ले रहे। मीकवेथ में पुराने सामन्तो की राजभक्ति नहीं है, नये जनतन्त्र की भावना उसमें जाग्रत नहीं हुई। घोसेलो निर्दोष प्रेम की उत्कट अभिलाषा करता है किन्तु वह स्वयं ईर्ष्यालु होकर अपनी पत्नी के विरुद्ध प्रवाद में विश्वास बर लेता है। ब्रूटस अपने देश को निरंकुश सत्ता से मुक्त करना चाहता है किन्तु उसकी आदर्शप्रियता अव्यावहारिक मिथ होनी है और इसका मुख्य कारण वृद्धम का चरित्र नहीं, जनता की अशिक्षा है। मार्क्स ने १८४८ में अन्त्युदयशील पूँजीपति वर्ग के लिए लिखा था, "जहाँ भी पूँजीपति वर्ग विजयी हुआ है, उसने सभी सामन्ती, विनृमत्ताक और दादापयी सम्बन्धों को खत्म कर दिया है। उसने निर्दयता से विविध सामन्ती सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है जिनसे मनुष्य अपने से 'महज थोप्ट जनों' से बँधा हुआ था। मनुष्यों के बीच उसने नग्न स्वार्थ, निर्मम 'धार्मिक तेनदेन' के अनिरक्त और कोई सम्बन्ध नहीं रखा। उसने धार्मिक आदेश के स्वर्गिक आनन्द को मध्ययुगीन मान-सम्मान के उत्साह को तथा कोरी भावुकता को स्वार्थमय धनोपाजन की योजनाओं के शीत जल में डुबो दिया है।" यह विघटित होता हुआ प्राचीन जगत् पूरी तरह शेक्सपियर की रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है।

शेक्सपियर के लिए मानव-सम्बन्धों को विघात करने वाले दो मुख्य कारण हैं : प्रेम के बढ़ते अनियन्त्रित भोगनिष्ठा और मनुष्यता के बढ़ते धन की प्रतिष्ठा। अपनी एक मॉनेट में मार्मरिक व्यवहारों से शब्द होकर वह मृत्यु-वागना करते हैं। वह देखते हैं कि लोग किसी के प्रति सच्चे रहने की प्रतिज्ञा बरके अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देते हैं, निर्दोष प्रेम पाप में परिणत हो जाता है, और "अधिकारी वर्ग के कारण बला मौन हो जाती है।" ये बातें हैमलेट ने नहीं, शेक्सपियर ने स्वगत कही हैं जो मानव-

मूल्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रकट करती हैं। हैमलेट की माता की भोगलिप्सा जघन्य रूप से उसके सामने आती है। “ऐण्टनी और क्लियोपाट्रा” में वीर ऐण्टनी एक चरित्रहीन सुन्दरी के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है। मैकबेथ की तरह ऐण्टनी के पतन में भी उसके प्रति हमारी सहानुभूति रहती है, कारण यह कि ऐण्टनी में उसकी वीरता के कुछ अंश अत तक बने रहते हैं और वह अपने पतन के प्रति नितान्त अचेत नहीं रहता। हैमलेट को लगता है कि उसके पिता के मरण-संस्कार के लिए भोजन का जो प्रबन्ध किया गया था, वह उसकी माता के नये विवाह के लिए भी काम आया और इस तरह क्लौडियस ने किफायतशारी से काम लिया। इससे अनियन्त्रित भोगलिप्सा के प्रति हैमलेट की तीव्र घृणा प्रकट होती है। अपनी माता के व्यवहार के प्रति उसकी घृणा उसे निष्क्रिय बना देती है। क्लौडियस के लिए उसकी घृणा नगण्य है। पिता का प्रेत उसे प्रतिशोध के लिए सजग करता है किन्तु प्रतिशोध से क्या टूटे हुए मानव-मूल्य जुड़ जायेंगे? प्रतिशोध से हैमलेट की समस्या नहीं सुलझती; इसीलिए वह इतना निष्क्रिय दिखाई देता है। कुछ समय के लिए उसे ओफीलिया से भी विरक्ति हो जाती है। वह उसे अविवाहित जीवन बिताने के लिए कहता है क्योंकि विवाहित होने पर वह पापियों को ही जन्म देगी। वह अपनी माँ से कठोर शब्द कहता है और कारण पूछने पर बतलाता है कि उसकी माता ने वह कार्य किया है जिससे विवाह की शपथ जुआरियों की सौगन्ध से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

हैमलेट क्लौडियस के धोखे पोलोनियस का वध कर डालता है। पोलोनियस का पुत्र विद्रोह की तैयारी करने लगता है। जनता उसे ‘लॉर्ड’ कहने लगती है और “मानो संसार का इतिहास अब आरम्भ हो रहा हो, प्राचीनता को लोग भूल गये हों, आचार-व्यवहार का ज्ञान ही न हो, पुरानी शपथें भुला दी गई हो, लोग चिल्लाते हैं, ‘हम निर्वाचन करते हैं, लायर्टीज राजा होगा।’ क्लौडियस रानी को समझाता है कि

राजा में दैवी शक्ति है और लायर्टीज उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। यहाँ भी सामन्ती शपथें, राजा के दैवी अधिकार मिटते दिखाई देते हैं। किन्तु शेक्सपियर को शोभ इन विशेषाधिकारों के नाश के लिए नहीं है, शोभ है सच्चाई, प्रेम और मनुष्यता के ह्रास पर। मुर्दे गाड़ने के स्थान पर हैमलेट अनेक कबालों को देखता हुआ राजनीतिज्ञों, दरबारियों, साँठों, बकीलों, भूमिप्राय करने वालों आदि पर व्यंग्य करता है।

हैमलेट की आस्था प्रायः टूट गई है, किन्तु पुरी तरह नहीं। घोषी-लिया के लिए उसके हृदय में प्रेम बराबर बता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई को चुनौती देते हुए वह कहता है "मैंने घोषी-लिया को प्यार किया है। तुम जैसे सहस्रों भाइयों का प्यार उसमें होड़ नहीं कर सकता।" वह अपने पिता के गुणों पर भुग्ध है किन्तु पिता के मरने पर सगार गुणशून्य नहीं हो गया। उसे अपने मित्र हॉरेगिश्चों में सच्चा स्नेह है। वह उसके मनुष्यत्व की सराहना करता है। जब हॉरेगिश्चों विरोध करता है तो हैमलेट आवेश में कहता है, "यह मन समझता कि मैं पाटुकारिता कर रहा हूँ... भीड़ी-भीड़ी बातों में लोगों के खोखले वैभव को रिसाये और उनके सामने अपने घुटने टेकें जिनमें इच्छाशक्ति की आज्ञा है। गुनो ! जब मेरा विवेक जाग्रत था और मैं मनुष्यों में विभेद कर सकता था, मैंने तुम्हें बरण कर लिया था। तुम उनमें में हो जो सब कुछ सहने हुए मानो कुछ नहीं सहने, जो भाग्य का उन्नीड़न और बरदान समान भाव से ग्रहण करने हैं। वे मौभाग्यशाली हैं जिनमें भावना और विवेक का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य है कि निर्दिष्ट उन पर निर्दिष्ट व्यवहार मनचाहा राय नहीं छेड़ सकती। मुझे वह व्यक्ति दिखाया जो इच्छाओं का दास न हो और मैं उसे हृदय से मरवा कर मूर्खता के बंध में लुप्त पड़ाऊँ हूँ।" वह आदर्श भारतीय महाकाव्यों में दिग्गजों में बिड़िपु किया गया है। मनुष्यत्व में श्रेष्ठतन्दर की आस्था बर्बाद नहीं होती।

यद्यपि अपने युग के मानव-सम्बन्धो से उन्हें क्षोभ था। वह आस्था भारतीय मानवता की आस्था से मिलनी-जुलती है।

‘किंग लियर’ में मनुष्य की चरम अर्थलिप्सा और क्रूरता का चित्रण किया गया है। लियर की दो लड़कियाँ पिता के प्रति अपने सहज कर्तव्य भूल गई हैं। लियर ने उन्हें अपना राज्य दे दिया है किन्तु वे बहाना करके उसे अपने साथ रखने से इन्कार कर देती हैं। बूढ़ा लियर आँधी और वर्षा में निर्वासित मनुष्य जाति को कोसता हुआ घूमता है। ग्लोस्टर के लडके एडमंड ने अपने भाई और पिता के साथ ऐसा ही कृतघ्न व्यवहार किया है जिससे वे दर-दर भटकते हैं। दो कथाओं को एक साथ रखकर शेक्सपियर ने इस बात पर बल दिया है कि पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना लियर के कुटुम्ब की विधाय घटना नहीं है; यह प्रक्रिया अनेक परिवारों में हो रही है। लियर राजा है; अपनी सबसे छोटी लड़की कीर्डिलिया को बहुत प्यार करता है। राजमद ने उसे भी हूणित कर दिया है जिससे वह चाटुकारिता और सच्चे स्नेह में भेद नहीं कर सकता। वह कीर्डिलिया को राज्य का अंश नहीं देता और अपने सच्चे मित्र और सेवक केन्ट को निर्वासित कर देता है। भाई-भाई के, पुत्र और पुत्रियाँ पिता के प्राण लेने पर तत्पर हैं। बूढ़े ग्लोस्टर की आँखें निकालकर पैरों तले कुचल दी जाती हैं क्योंकि वह लियर का सहायक है। दो बहनें अर्थलिप्सा के साथ कामलिप्सा के लिए परस्पर संपर्क करती हैं। उन्हें एक-दूसरे की विपत्ति देने में भी संकोच नहीं होता। एडमंड की क्रूरता से कीर्डिलिया को काँसी दे दी जाती है, वह उसे बचाना चाहता है तब जब बहुत विलम्ब हो चुका है।

“किंग लियर” में मनुष्य की स्वार्थपरता और कृतघ्नता का रोमांचकारी चित्रण धींचा गया है। इसे पढ़ने और देखने में साधारण मनुष्य को इतना कष्ट होता है कि इंग्लैण्ड में यह सब से कम लोकप्रिय नाटकों में रहा है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उसे मुखान्त नाटक बनाकर लोग

मंच पर प्रस्तुत करने रहे है। घैटले जैसे आलोचक ने भी उसके दुःखमय अन्त को बना घोर नाटकीयता के विरुद्ध माना है। शेक्सपियर ने जिस क्रूरता का चित्रण किया है, वह अर्थार्थ थी। रीगन, गानरिल, एडमंड, कॉर्नेवान आदि नरपिशाच उमी श्रेणी के व्यक्ति है जिन श्रेणी के दशांगों घोर शाश्वत है। इन श्रेणी के व्यक्तियों ने इंग्लैंड घोर अन्य देशों में कौन से क्रूर कृत्य नहीं किए ? इसलिए शेक्सपियर ने जो कुछ चित्रित किया है, वह न तो अर्थार्थ है, घोर न कला घोर नाटकीयता के विरुद्ध है। आधुनिक आलोचकों ने शेक्सपियर के बारे में एक प्रवाद फैला रक्खा है कि सामाजिक द्वंद से अधिक उसे मनुष्य के अन्तर्द्वंद से दिलचस्पी थी। अन्तर्द्वंद घोर बाह्य द्वंद के बीच कोई गहरी खाई नहीं है। हैमलेट में यह अन्तर्द्वंद सबसे अधिक उभर कर आया है। हैमलेट का सोम, निष्क्रियता, स्तब्धता, आक्रोश—सभी उसके चारों घोर विशृंखल होते हुए मानव-मस्वन्धों से जुड़े हुए हैं। हैमलेट के अन्तर्द्वंद का कारण सामाजिक द्वंद ही है। घोषेणों का अन्तर्द्वंद बहुत सीमित है। जब तक उसे अपनी पत्नी पर सन्देह भाव रहता है, यह अन्तर्द्वंद से झुलसता रहता है। जहाँ उसे निश्चय हुआ, वह उसका नाश कर देता है। समाज के लिए विधातक शक्ति के रूप में दशांगों इतना उभर कर आता है कि उसकी बाह्य सत्ता को घोषेणों के अन्तर्द्वंद में छिपाया नहीं जा सकता। निस्सन्देह घोषेणों स्वयं ईर्ष्यान्वु है जिसमें यही सिद्ध होता है कि घेनिय के नागरिक जीवन का कलुष एक सीमा तक घोषेणों का मानस भी विषाक्त कर चुका है। मैकबेथ नाटकों के 'वीर' की उस परिभाषा का उल्लंघन करता है जिसके अनुसार वीर सत्पुरुष होता है, केवल विभी भाव या गुण के अति विकसित हो जाने से उसका ध्यक्त्व दोषपूर्ण हो जाता है घोर इस कारण वह कष्ट भोगता है। वे दशांगों, गानरिल, रीगन घोर एडमंड की तरह अर्थार्थमी है। वह पाप करके सत्तालाभ करना चाहता है। अन्तर इतना है कि घोरों की तरह उसकी नीति

मद्विपि अपने युग के मानव-सम्बन्धों से उन्हें क्षोभ था। वह आस्था भारतीय मानवता की आस्था से मिलनी-जुलती है।

‘किंग लियर’ में मनुष्य की चरम अर्थलिप्सा और क्रूरता का चित्रण किया गया है। लियर की दो लड़कियाँ पिता के प्रति अपने सहज कर्तव्य भूल गई हैं। लियर ने उन्हें अपना राज्य दे दिया है किन्तु वे बहाना करके उसे अपने साथ रखने से इन्कार कर देती हैं। बूढ़ा लियर आधी रात बर्षा में निर्वासित मनुष्य जाति को कोसता हुआ घूमता है। ग्लोस्टर के लडके एडमंड ने अपने भाई और पिता के साथ ऐसा ही कृतघ्न व्यवहार किया है जिससे वे दर-दर भटकते हैं। दो कथाओं को एक साथ रखकर शेक्सपियर ने इस बात पर बल दिया है कि पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना लियर के कुटुम्ब की विंशत घटना नहीं है; यह प्रक्रिया अनेक परिवारों में हो रही है। लियर राजा है; अपनी सबसे छोटी लड़की कोर्डिलिया को बहुत प्यार करता है। राजमद ने उसे भी उपित कर दिया है जिससे वह चाटुकारिता और सच्चे स्नेह में भेद नहीं कर सकता। वह कोर्डिलिया को राज्य का भ्रष्ट नहीं देता और अपने सच्चे मित्र और सेवक केन्ट को निर्वासित कर देता है। भाई-भाई के, पुत्र और पुत्रियाँ पिता के प्राण लेने पर तत्पर हैं। बूढ़े ग्लोस्टर की आँखें नेकालकर पैरों तले कुचल दी जाती हैं क्योंकि वह लियर का सहायक है। दो बहनें अर्थलिप्सा के साथ कामलिप्सा के लिए परस्पर संपर्क करती हैं। उन्हें एक-दूसरे को बिप देने में भी संकोच नहीं होता। एडमंड ने क्रूरता से कोर्डिलिया को फाँसी दे दी जाती है; वह उसे बचाना चाहता है; तब जब बहुत विलम्ब हो चुका है।

“किंग लियर” में मनुष्य की स्वार्थपरता और कृतघ्नता का रोमांचकारी चित्र खींचा गया है। इसे पढ़ने और देखने में साधारण मनुष्य को इतना कष्ट होता है कि इंग्लैण्ड में यह सब से कम लोकप्रिय नाटकों में रहा है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उसे सुखान्त नाटक बनाकर सोया

मंच पर प्रस्तुत करते रहे हैं। ब्रैटले जैसे आलोचक ने भी उसके दुःखमय अन्त को कला घोर नाटकीयता के विमूढ माना है। शेक्सपियर ने जिता कूरता का चित्रण किया है, वह यथायं थी। रोगन, गोनरिल, एडमंड, कॉर्नेलिय आदि नरपिशाच उसी श्रेणी के व्यक्ति हैं जिग श्रेणी के दयागा घोर शास्त्रोंक है। इस श्रेणी के व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड घोर अन्य देशों में जीवन से बुरा कृत्य नहीं किये ? इसलिए शेक्सपियर ने जो कुछ चित्रित किया है, वह न तो अयथायं है, घोर न कला घोर नाटकीयता के विरुद्ध है। आधुनिक आलोचकों ने शेक्सपियर के बारे में एक प्रवाद फैला रखा है कि सामाजिक द्वंद से अधिक उसे मनुष्य के अन्तर्द्वंद से दिलचस्पी थी। अन्तर्द्वंद घोर बाह्य द्वंद के बीच कोई गहरी छिद्र नहीं है। हैमलेट में यह अन्तर्द्वंद सबसे अधिक उभर कर आया है। हैमलेट का सोम, निष्प्रियता, रक्तानि, आक्रोश—सभी उसके चारों घोर शिथिल होने हुए मानव-सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। हैमलेट के अन्तर्द्वंद का कारण सामाजिक द्वंद ही है। घोषेनों का अन्तर्द्वंद बहुत सीमित है। जब तक उसे अपनी पत्नी पर मन्देह मात्र रहता है, वह अन्तर्द्वंद में श्रुतमान रहता है। जहाँ उसे निश्चय हुआ, वह उसका नाश कर देता है। समाज के लिए विधातक शक्ति के रूप में दयागो इतना उभर कर आता है कि उसकी बाह्य मत्ता को घोषेनों के अन्तर्द्वंद में छिपाया नहीं जा सकता। निस्सन्देह घोषेनों स्वयं हीच्छा है जिसमें यही निहित होता है कि वे 'नम' के नागरिक जीवन का कथन एवं सीमा तक घोषेनों का मानस भी विधातक कर चुका है। मैकबेथ नाटकों के 'घोर' की उस परिभाषा का उल्लेख करता है जिसके अनुसार घोर मनुष्य होता है, जिसने किसी अन्य का कृष्ण के अति विधित हो जाने से उसका अन्तर्द्वंद को नष्ट हो जाता है घोर इस कारण वह बुरा भोदता है। वे दयागो, दयागि गीत घोर एडमंड की तरह अपेक्षणी है। वह एक तरह का अन्तर्द्वंद करता चाहता है। अन्तर इच्छा है कि घोषेनों को नष्ट करने के लिए

भावना पूरी तरह नष्ट नहीं हो गई। उसके चरित्र का सौन्दर्य इस नैतिक भावना के जीवित रहने और उसके लिए संघर्ष करने में है। मैकबेथ में शोभ है, पश्चात्ताप है, ग्लानि है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व मुख्यतः डकन की मृत्यु के पहले और छोटे समय के लिए ही है।

‘किंग लियर’ में इस तरह के अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है। लियर ने कॉर्डेलिया के साथ अन्याय किया है। यह स्मृति उसे पीड़ित करती रहती है। कॉर्डेलिया के प्रति लियर के व्यवहार का कारण वह चाटु-कारिता का वातावरण है जिसमें लियर का सारा जीवन बीता है। इस प्रकार लियर का अन्याय एक विशद सामाजिक अन्याय का ही अंग है; लियर का अन्तर्द्वन्द्व समाज के बाह्य द्वन्द्व का ही एक अंग है।

शेक्सपियर के वीर पात्रों के बारे में प्रचलित ध्योरी यह है कि वे उच्च वंश के, राजा, सामन्त, विशिष्ट नागरिक आदि होते हैं; उनका पतन मानो व्यक्ति का पतन न होकर किसी राज्य या समाज का पतन होता है। यह ध्योरी ऊपर से देखने में सही है। शेक्सपियर के वीर पात्र अभिजात वर्ग के हैं किन्तु नाटक की विशेषता यह होती है कि वे अपनी साधारण मनुष्यता के प्रति बहुत सजग रहते हैं। मैकबेथ महत्वाकांक्षी सामन्त है; उसके अपराध एक स्वार्थी सामन्त के हैं। इसलिए वह अभिजात वर्ग का हो तो कोई दोष नहीं। किन्तु ‘मैकबेथ’ में भी यह स्पष्ट है कि उसके भीतर जो नैतिकता जागती और संघर्ष करती है, वह सामन्त वर्ग की नहीं, साधारण जनो की नैतिकता है। कम-से-कम यह नैतिकता ऐसी है जो सभी के लिए काम्य है। ओथेलो ने वेनिस के गौराङ्ग समाज में अपनी वीरता और गुणों के बल पर प्रतिष्ठा पाई है, कुलीनता से उसकी प्रतिष्ठा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शेक्सपियर के समाज में कुलीनता का पथेष्ट महत्त्व था और आज के इंग्लैण्ड में भी बहुत कुछ है। शेक्सपियर ने अपनी एक सॉनेट में उन लोगों का उल्लेख किया है जिन्हें अपनी कुलीनता, सम्पत्ति आदि पर गर्व है। अपनी प्रेयसी को

गम्बोधन करके उन्होंने लिखा है, "तुम्हारा प्रेम मेरे लिए कुलीनता से बढ़कर है।" गौराङ्ग युवको को छोड़कर डेसिडमोना ने भी श्रोथेलो के लिए इसी प्रेम का परिचय दिया था। अभिजात वर्ग की कुलीनता नहीं, मनुष्यता; सम्पत्ति का गर्व नहीं, मानवीय करुणा—नैतिक मूल्यों के प्रति शेक्सपियर का यह दृष्टिकोण है।

आँधी घोर वर्षा की मार सहता हुआ लियर अपनी बेटियों की कृतघ्नता भूल जाना चाहता है। उसे इतना क्षोभ होता है कि वह प्रकृति घोर मनुष्य दोनों के नष्ट हो जाने की कामना करता है। शेक्सपियर के लिए मनुष्य की कृतघ्नता उसकी सबसे बड़ी अनैतिकता है। "एज यू लाइव इट" के एक प्रसिद्ध गीत में शीतवायु को मनुष्य की कृतघ्नता से कम दुःखद कहा गया है। 'टाइमन ऑफ एन्योस' में टाइमन अतिशय उदारता से अपने मित्रों के लिए अपना धन खर्च करता है किन्तु सम्पत्ति स्वाहा हो जाने पर जब महाजन तकाजें करते हैं तब उसके मित्रों में एक भी उसका साथ नहीं देता। मनुष्य धन का दास बन गया है, निर्धन टाइमन इस गत्य को दुःख्य होकर बार-बार दोहराता है। टाइमन के मित्रों में अधिक भयानक लियर की पुत्रियों की कृतघ्नता है क्योंकि वे उसकी पुत्रियाँ हैं। फिर भी अपने दुःख में लियर अपने विदूषकवा दुःख नहीं भूलता, तूफान से बचने के लिए वह एक झोपड़ी में शरण लेने को तैयार हो जाता है। उस समय उसे ससार के दुखी गरीबों की याद आती है। वह कहता है, "नगे-भूखे गरीबों ! जहाँ भी तुम इस निर्दय तूफान की मार सहते हो, तुम्हारे भूखे शरीर घोर पड़े बगड़े घर के बिना ऐसी ऋतु में कैसे तुम्हारी रक्षा करते होंगे ? आह, मैंने इस घोर बहून ही कम ध्यान दिया है ! धनवानों, अपना उपचार करो ! जो ये दुःखी अनुभव करते हैं, उसे तुम भी अनुभव करो जिसमें अपनी अनिर्दिष्ट मर्यादा तुम इन्हें दे दो घोर ईश्वर अधिक न्यायपूर्ण मित्र हो।" लियर में यह अनु-

भूति सब-कुछ छोड़कर जाग्रत होनी है जब वह माधारण मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं रह जाता ।

झोंपड़ी में ग्लोस्टर का निर्वासित पुत्र एडगर छिपा हुआ है जो एक दुखी विधिपूत भिखारी का जीवन बिता रहा है । उसके पास एक कम्बल छोड़कर और कुछ नहीं है । वह अखाद्य खाता हुआ जगह-जगह से प्रताड़ित माग-मारा घूमता है । लियर उसे देखकर पहचानता है कि कुल-गम्पदाहीन नग्न मनुष्यता क्या होती है । उसे अपना जीवन कृत्रिम लगता है और आगे में वह अपने बस्त्र उतारने लगता है । लियर आगे चलकर वर्गयुक्त समाज की न्याय-व्यवस्था की टीका करता है । “पाप को सोने में मढ़ दो और न्याय का अम्र उसमें टकराकर चूर हो जायगा । उमे चीथड़ों में लपेट दो और तिनके से भी वह दह जायगा ।” यह पूँजीवादी समाज का अम्युदयकाल था जिस पर शेक्सपियर की यह तीव्री टिप्पणी अनेक पाश्चात्य आलोचकों के गले से नीचे नहीं उतरती, लियर अपने वर्ग में विलग होकर यह मानवीय कर्मा प्राप्त करती है । वह बन्दीगृह में कॉर्डेलिया के साथ शान्ति में अन्तिम जीवन बिता देना चाहता है किन्तु नर-राक्षस उसकी यह साध भी पूरी नहीं होने देते ।

दुखान्त नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनमें पाठकों में भय और दया के भाव जाग्रत होने हैं । भय कम, दया अधिक, और दया के साथ क्रोध और वीर-भावों के लिए सम्मान का भास भी दुखान्त नाटकों की विशेषता है । दुखान्त नाटक या ट्रेजेडी दुख की ही कथा नहीं है; वह दुख से मनुष्य के मरपं की कथा भी है । दुख सहते हुए मनुष्य अपनी धीरता-वीरता आदि गुणों का परिचय देता है । अन्याय और वृत्ता के प्रति जनता का रोष जाग्रत होता है, अन्त में अन्याय विजयी नहीं होता, अन्यायी को अपने किये का फल मिल जाता है । लियर स्वयं कॉर्डेलिया को फाँसी देने वाले का वध करना है । यह बुद्ध है, शारीरिक और मानसिक रूप से दृढ़ चुका है । फिर भी अन्तिम बार सारी शक्ति

लगाकर कार्डिलिया के बधिक को दण्ड देकर मानो उसके प्रति अपने पूर्व अन्याय का प्रतिकार कर डालता है। कॉर्नवाल बूढ़े ग्लॉस्टर की आँखें निकालता है। उस समय एक साधारण सेवक से नहीं रहा जाता, वह तलवार निकालकर अपने 'स्वामी' के विरोध में खड़ा हो जाता है। यद्यपि वह मारा जाता है, फिर भी कॉर्नवाल को इतना घायल कर जाता है कि उमका भी प्राणान्त हो जाय। अर्थलाभ की आशा से बूढ़े और अन्धे ग्लॉस्टर के प्राण लेने के लिए जब आस्वाल्ड बढ़ता है, तब उसकी तलवार की परवाह न करके किसान के वेश में एडगर अपने छड़े से उमका मिर तोड़ देता है। अन्यायी को दण्ड मिले—नि सन्देह शेक्सपियर का विवेक इससे प्रसन्न होता है। उनके नाटक निष्क्रिय सहनशीलता की आकर्षक बनाकर चित्रित नहीं करते। शेक्सपियर को कान्ना का स्रोत उनकी प्रगाढ़ माननीय सहानुभूति है जो उन्हें अपने समकालीन भारतीय कवि तुलसीदास के निकट लाती है। दोनों के साहित्यिक उपकरण भिन्न हैं किन्तु हृदय की घटकन दोनों की मिलती-जुलती है।

श्रैडले ने मनुष्य-जानि पर लियर के आक्रोश का विवेचन करते हुए लिखा है, "किन्तु 'टाइमन' की तरह यहाँ भी गरीब और साधारण जन, प्रायः बिना किसी अपवाद के, हृदय के सच्चे और सरल हैं, दयावान और वफादार हैं।" जो लोग समझते हैं कि शेक्सपियर के लिए सभी मनुष्य समान थे, वे श्रैडले के इस वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें। इसी के साथ एक टिप्पणी में इस अंगरेज आलोचक ने लिखा है, "इस विषय में शेक्सपियर के भाव, उनके जीवन के इस भाग में, विशेष तीव्र रहे हैं किन्तु वे आजीवन बहुत कुछ एकसे रहे हैं। (तुलना कीजिये "एज यू लाइव इट" में प्रैटम)। राजनीतिज्ञों के रूप में साधारण जनो के लिए शेक्सपियर के पास सम्मान नहीं है किन्तु उनके हृदय के लिए महान् श्रद्धा है।" शेक्सपियर का सामाजिक दृष्टिकोण अभिज्ञान वर्ग का नहीं है; वह दृष्टिकोण ऐवन नदी के किनारे स्ट्रैटफोर्ड के साधारण जनो का है जिनमें

शेक्सपियर का जन्म हुआ था। यह सामाजिक दृष्टिकोण जो निर्धन और निम्नजनों के प्रति इतना उदार है, शेक्सपियर की कला के लिए महत्त्वहीन नहीं है। इसी के आधार पर शेक्सपियर ने उस भौगोलिक और अर्थ-लिप्ता के प्रति घृणा प्रकट की है जो यूरोप की अभ्युदयशील पूंजीवादी संस्कृति की एक विशेषता थी। इसी के आधार पर उसने मनुष्य के सचाई, वीरता, धीरता, न्यायप्रियता आदि के लिए उसके संघर्ष के अद्भुत चित्र खीचे हैं। शेक्सपियर की कलात्मक तटस्थता आलोचकों की मन-गड़न्त कहानी है। वह मानव-मूल्यों के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं बल्कि सक्रिय रूप से हमारी करुणा या आक्रांश जाग्रत करते हैं। शेक्सपियर की यह विवेकशील करुणा उन्हें विश्वकलाकार बनाती है।

शेक्सपियर की तटस्थता-सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

“टंडन के अनुसार शेक्सपियर को दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसकी बुद्धि का असामञ्जस्य उसकी बुद्धि अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आत्म-ग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम ही होगा। पर टंडन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।”

शेक्सपीयर की विश्वजनीनता का यही कारण है कि वह निरपेक्ष रहकर बाल्यता-बौद्धिक नहीं दिखाने बल्कि उन मूल्यों के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करते हैं जिनके बिना मनुष्य अपना मनुष्योचित जीवन या नहीं सकता।

कहने का कहना है कि शेक्सपीयर में हमें ऐसे मगार का दर्शन होते हैं जो पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। उसमें पुण्य के साथ पाप भी उत्पन्न होता है। यह पाप आत्मपीडन और आत्मक्षय द्वारा ही निर्मल होता है। यह तथ्य ही ईजवी है।

आत्मपीडन और आत्मक्षय ही क्यों ? प्रत्येक नाटक का हीरो तो पापात्मा नहीं है। हैमलेट के आत्मपीडन का कारण उमका अपना कोई पाप नहीं है। पाप का नाश होता है, चाहे वह हीरो में हो चाहे उसके प्रतिद्वन्द्वियों में। न्याय हीरो के प्रतिद्वन्द्वियों की ओर भी हो सकता है जैसे 'मैकबेथ' में। पाप का आधार मूलतः मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध है जिनमें वह अनियन्त्रित भोगनिष्ठा और अपेक्षिष्ठा की ओर बढ़ता है। कहने के लिए बाह्य दुष्ट शीघ्र है, ईश्वर और जीवन मनुष्य के हृदय में ही गहरा किया करते हैं। यह शेक्सपीयर का ईगार्ड धर्म का चामा पसावर देखना है। साथ ही कहने में पाप के लिए मनुष्य को—उसके सम्बन्धों को—दोषी न टहरा कर किसी बाह्य-जगत् को दोषी टहराया है। शेक्सपीयर के पात्र अन्तराल में गहरा करते हैं और जो जगत् उनके सामर्थ्य में बंधा जाती है वह उन्हें ऐसी योजना का सम्मुख बनाती है जो उनकी नहीं है।" इस तरह मनुष्य का अन्तर्दुष्ट भी निरपेक्ष हो जाता है। क्योंकि वह किसी मानवता योजना की दुर्लक्ष्यता होता है। इसलिये 'विश्व विचार' में कहने के लिए मनुष्य का दुष्ट एक अनेक रूपों में आता है ! या भी शेक्सपीयर का निरपेक्षता काव्यलिपि बनता है जिसका पठन कहने में बढ़ते बिना है। यदि शेक्स

विश्व में मनुष्य मृत्यु आने कभी के लिए उत्पन्न ही है, कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसका अन्तिम रूप के कभी का अन्त है जो किसी मरणाति की योजना का अन्त नहीं होता। शोकगतिविश्व के साक्ष्य मनुष्य के मौखिक जीवन की साक्षात् है।

शोकगतिविश्व में मृत्यु की साक्ष्य की परम्परा में बहुत-कुछ पता। उगे उन्होंने अपने देश की शोक मरुति के मरुतों में जोरा। अपने रूप में मानव-मृत्यु का विषय होने देखकर—अपना छन और प्रेम के लिए अनेक रत्न में बिछी विष मृत्यु का हाथ देखकर—शोकगतिविश्व में अपने मरान् दुःखान् साक्ष्य रहे। ये साक्ष्य हमारी कदम की परिष्कार और प्रसार करने हैं। दया और प्रेम के मार्गों के प्रतिष्ठित के अन्तर्गत और बर्बसा के प्रति जोर और धीरता-वीरता आदि गुणों के लिए सम्मान-भावना भी प्राप्ति करने हैं। शोकगतिविश्व मनुष्य के नैतिक गंभीर में सतत न होकर विश्ववर्णीय मृत्यु का पता लेने हैं। उनके साक्ष्यों में साक्ष्य-गर्भण पर भी गूढ़ बन है; हीरो का अन्तर्गत ही सब कुछ नहीं है। इस प्रकार ये साक्ष्य मनुष्य के नैतिक विशाल का एक साधन हैं। शोकगतिविश्व को जो मानव-मृत्यु विषय, उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ।

